प्राकृतिक खेती

डॉ0 उमाशंकर मिश्र

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग)
भारत सरकार

प्राकृतिक खेती

लेखक

डॉ० उमाशंकर मिश्र

(मृदा विज्ञान विभाग, प्रवक्ता, कृषि एवं पशुविज्ञान संकाय
महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय
चित्रकूट, मध्य प्रदेश)

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय,
(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग)
भारत सरकार

Commission for Scientific and Technical Terminology
Ministry of Human Resource Development,
(Department of Secondary and Higher Education)
GOVERNMENT OF INDIA
2004

© भारत सरकार, 2004
© Government of India, 2004

प्रकाशक :

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग)
पश्चिमी खंड 7, रामकृष्णपुरम्,
नई दिल्ली-110 066

प्रथम संस्करण : 2004

मूल्य :

देश में : रु॰ 167.00
विदेश में : पौंड 2.45 डॉलर 3.47

बिक्री का पता :

1. **वैज्ञानिक अधिकारी (बिक्री)**
   वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,
   पश्चिमी खंड 7, रामकृष्णपुरम्,
   नई दिल्ली-110 066

2. **प्रकाशन नियंत्रक**
   प्रकाशन विभाग, भारत सरकार,
   सिविल लाइन्स,
   नई दिल्ली-110 054

आयोग के पूर्व अध्यक्ष

1. डॉ. दौलत सिंह कोठारी, (1961-1965)
2. डॉ. निहालकरण सेठी, (1965-1966)
3. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, (1966-1967)
4. डॉ. एस. बालसुब्रह्मण्यम्, (1967-1968)
5. डॉ. बाबूराम सक्सेना, (1968-1970)
6. श्री कृष्ण दयाल भार्गव, (1970)
7. श्री गंटि जोगि सोमयाजी, (1970-1971)
8. डॉ. पी. गोपाल शर्मा, (1971-1975)
9. प्रो. हरबंशलाल शर्मा, (1975-1980)
10. प्रो. मलिक मोहम्मद, (1983-1987)
11. प्रो. सूरजभान सिंह, (1988-1994)
12. प्रो. प्रेम स्वरूप सकलानी, (1994-1998)
13. डॉ. हरीश कुमार, (1998)
14. डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव, (1998-2001)
15. डॉ. हरीश कुमार, (2001-2003)

वर्तमान अध्यक्ष

डॉ. पुष्पलता तनेजा (2003-)

समन्वय तथा संपादन

प्रधान संपादक
डॉ. पुष्पलता तनेजा
अध्यक्ष

संपादक
दुर्गा प्रसाद मिश्र
वैज्ञानिक अधिकारी

पुनरीक्षक
डॉ. शिवगोपाल मिश्र
प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, प्रयाग

सहयोग
डॉ. पी. एन. शुक्ल
वैज्ञानिक अधिकारी

प्रकाशन
श्री राम बहादुर
उपनिदेशक

डॉ. पी. एन. शुक्ला
वैज्ञानिक अधिकारी

श्री आलोक वाही
कलाकार

भूमिका

भारत एक विकासशील एवं कृषि प्रधान देश है, इसलिए हमारी अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि ही है। सन् 1960 के दशक के पूर्व खाद्यान्न उत्पादन में भारत बहुत ही पिछड़ा हुआ था। अपनी खाद्यान्न की आवश्यकता की पूर्ति हेतु अमेरिका से पी. एल. 480 अनुबंध के तहत खाद्यान्न आयातित करता था। सन् 1942-43 में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा, जिसमें लाखों लोगों की जानें गईं थी। इसी अकाल से द्रवित होकर सन् 1946 में गाँधी जी ने कहा था कि "भूखे आदमी के लिए रोटी ही भगवान है।"

मगर सन् 1966-67 में स्थिति बदली। इस अवधि में डॉ. एम.एस. स्वामिनाथन, डॉ. वी. पी. पाल जैसे योग्य कृषि वैज्ञानिकों के प्रयास से हरित क्रांति ने राष्ट्र को खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनाया। परंतु वर्तमान में हमारे देश के किसान अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए उन्नत और संकर बीजों, रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशियों, खरपतवार नाशी रसायनों तथा सिंचाई के जल का अंधाधुंध प्रयोग करते जा रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं है कि कृषि उत्पादकता में कई गुना वृद्धि हुई है। परंतु एक सीमा के बाद फसलों की पैदावार एवं उनके गुणों में धीरे-धीरे गिरावट शुरू हुई तथा अन्य समस्याएं उत्पन्न हो गईं जैसे, पोषक तत्वों की दक्षता में कभी, मृदा में पोषक तत्वों का असंतुलन, विषैली भारी धातुओं में वृद्धि, मिट्टी के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों में प्रतिकूल परिवर्तन, पानी के दुरुपयोग, मिट्टी एवं पानी का प्रदूषण, भूमि के लाभदायक जीवाणुओं का विनाश एवं फसलों के रोगों, कीट-ब्याधियों एवं खरपतवारों में अप्रत्याशित वृद्धि आदि जो उत्पादन क्षमता को

अत्यधिक प्रभावित करती हैं। इन सबके कारण खेती की बुनियाद के लिए ही खतरा पैदा हो रहा है। अतः ऐसी स्थिति से छुटकारा पाने के लिए प्राकृतिक खेती को अपना कर प्रकृति की अनमोल धरोहर मिट्टी, जल, वायु एवं प्राकृतिक संसाधनों में हो रहे उपरोक्त दुष्परिणामों को कम या समाप्त किया जा सकता है।

अतः शस्य क्रियाओं में प्राकृतिक खेती के मुख्य सिद्धांतों, जैसे न्यूनतम एवं शून्य भूपरिष्करण, जैविक खादों, जैव उर्वरकों, जैविक कीटनाशियों एवं जैविक शाकनाशियों आदि का प्रबंधन करके मृदा, जल एवं वायु इन तीनों अवयवों को पर्यावरणीय दृष्टिकोण से सुरक्षित, संरक्षित और स्थायी रूप से गतिशील बनाए रखा जा सकता है। तभी हम अपनी इस अमूल्य धरोहर को आने वाली पीढ़ी के लिए बचा सकते हैं।

कृषि के क्षेत्र में प्राकृतिक खेती के रूप में एक सबल एवं सकारात्मक संस्कृति का अभ्युदय हो रहा है, जिसमें कृषि वैज्ञानिक नैसर्गिक संसाधनों एवं वैज्ञानिक विधाओं के सामंजस्य से कृषि-उत्पादन एवं उत्पादकता को कृषकों के अमूल्य सहयोग से नए सोपानों की ओर ले जाने में सक्षम सिद्ध होगें। साथ ही इस संस्कृति से हमें उपलब्ध होगा एक प्रदूषण रहित आदर्श पर्यावरण जो हमारी कृषि के लिए एक अनमोल उपहार होगा।

प्रस्तुत कृति को पूरा करने में हमारे परिवार के सभी सदस्यों विशेषतः मेरी पत्नी श्रीमती रेखा मिश्र एवं बच्चे किसलय और आदर्श ने जो हार्दिक सतत सहयोग प्रदान किया उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

विश्वास है कि प्रस्तुत मोनोग्राफ विद्यार्थियों से लेकर किसानों तकं सभी आयु वर्गों के लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

इस पुस्तक के निर्माण में यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो वह सर्वथा मेरी है, और मैं इसके लिए पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

चित्रकूट
नवंबर 2004

डॉ. उमाशंकर मिश्र

प्रस्तावना

भारत सरकार ने विश्वविद्यालय-स्तर पर शिक्षा-माध्यम के रूप में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विकास के लिए तत्कालीन शिक्षा मंत्रालय (अब मानव संसाधन विकास मंत्रालय) के अधीन सन् 1961 में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की स्थापना की थी। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आयोग ने अनेक परिभाषा-कोशों, चयनिकाओं, पाठमालाओं तथा विश्वविद्यालय स्तरीय हिंदी पुस्तकों का निर्माण किया है। अनेक पाठ्य-पुस्तकें, शब्द-संग्रह, परिभाषा कोश, चयनिकाएं, पत्रिकाएं, पाठमालाएं आदि प्रकाशित हो चुकी हैं।

पाठमालाओं के निर्माण में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि उनकी विषय-सामग्री उपयोगी तथा अद्यतन हो और भाषा सरल, बोधगम्य एवं आकर्षक हो ताकि अध्यापक भी हिंदी माध्यम से अपने-अपने विषय को पढ़ाने में सक्षम हो सकें।

प्रस्तुत पाठमाला 'प्राकृतिक खेती' महात्मा गांधी चित्रकूट विश्वविद्यालय के मृदा विज्ञान विभाग के प्रवक्ता डॉ. उमाशंकर मिश्र द्वारा लिखी गई है। लेखक ने सरल शब्दों में यह बताया है कि आधुनिक रासायनिक एवं कृत्रिम उर्वरकों के उपयोग से तथा कीटनाशियों एवं शाकनाशियों आदि के अंधाधुंध प्रयोग से अब न केवल उपज घट रही है बल्कि खेती की भूमि भी खराब होती जा रही है जिसका परिणाम भयावह हो सकता है। इसके निवारण के लिए लेखक ने "प्राकृतिक खेती" को अपनाने की सप्रमाण तथा सतथ्य संस्तुति की है।

पाठमाला की भाषा सरल, बोधगम्य और प्रवाहपूर्ण है। इसमें वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा निर्मित हिंदी की मानक

शब्दावली का प्रयोग करने का प्रयास किया गया है और पुस्तक के अंत में तकनीकी शब्दों की सूचियाँ भी दी गई हैं। पाठमाला के संपादक श्री दुर्गा प्रसाद मिश्र ने परिशिष्ट में आयोग द्वारा स्वीकृत शब्दावली निर्माण के सिद्धांतों और उसके प्रकाशनों की सूचियाँ भी दी हैं।

मुझे विश्वास है कि यह पाठमाला स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

तनेजा

मार्च 2004
नई दिल्ली

(डॉ. पुष्पलता तनेजा)
अध्यक्ष

विषय-सूची

अध्याय

पृष्ठ

1.	प्रस्तावना	1-10
2.	प्राकृतिक खेती : परिभाषा एवं सिद्धांत	11-20
3.	प्राकृतिक खेती एवं पर्यावरण	21-36
4.	प्राकृतिक खेती : महत्व	37-65
5.	प्राकृतिक खेती के संदर्भ में फसल-उत्पादन और उसके प्रमुख आयाम :	66-118
	(क) प्राकृतिक खेती में हरी खाद की भूमिका	
	(ख) प्राकृतिक खेती में जैव उर्वरकों की भूमिका	
	(ग) प्राकृतिक खेती में जैव कीटनाशियों की भूमिका	
	(घ) प्राकृतिक खेती में जैव शाकनाशियों की भूमिका	
	(ङ) प्राकृतिक खेती में शून्य-भूपरिष्करण की भूमिका	
	(च) प्राकृतिक खेती में स्थायी जल प्रबंध की भूमिका	
6.	उपसंहार	119-124

परिशिष्ट

I.	संदर्भ-सूची	125-127
II.	हिंदी-अंग्रेजी शब्द-सूची	128-133
III.	अंग्रेजी-हिंदी शब्द-सूची	134- 139
IV.	वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा स्वीकृत शब्दावली निर्माण के सिद्धांत	140-143
V.	आयोग द्वारा प्रकाशित शब्द-संग्रहों की सूची	144-147
VI.	आयोग द्वारा प्रकाशित परिभाषा कोशों की सूची	147-149

प्राकृतिक खेती

लेखक

डॉ. उमाशंकर मिश्र

लेखक परिचय

डॉ. उमाशंकर मिश्र का जन्म 9 सितंबर 1967 को ग्राम तामापार पोस्ट-मल्हीपुर, जिला-गोंडा के एक कृषक परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम स्व. श्री गुरुप्रसाद मिश्र एवं माता श्रीमती गायत्री मिश्र हैं। आपने अपनी शिक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय से पूर्ण की है। मृदा विज्ञान आपकी विशेषज्ञता का क्षेत्र है। संप्रति आप महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय के कृषि एवं पशु विज्ञान संकाय के मृदा विज्ञान विभाग में प्राध्यापक हैं। आपके द्वारा लिखी गई पुस्तक 'वर्मीकल्चर' काफी लोकप्रिय रही। आपके अनेक शोध-पत्र एवं लेख प्रसिद्ध शोध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके है। कृषि संबंधित आपके व्यावहारिक शोध कार्यों एवं प्रयोगों को व्यापक सराहना मिली है।

अध्याय - 1

प्रस्तावना

कृषि का उद्‌भव एवं विकास

जगत् के उद्‌भव एवं विकास काल में आदि मानव जंगलों में निवास करता था। उनका संपूर्ण जीवन जानवरों के शिकार पर, पेड़ पौधों के कंदमूल, फल एवं फूलों पर निर्भर था। प्रारंभ में मनुष्यों को भूमि पर खेती करके अपने जीवन-निर्वाह की आवश्यकता नहीं महसूस हुई, क्योंकि उस समय वे अपना पेट भरने के लिए पशुओं का शिकार करके उनके मांस को खाते थे। मांस-भक्षण आज हमारे देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के 50 प्रतिशत लोगों के भोजन का हिस्सा बना हुआ है। प्रारंभ में प्राकृतिक प्रकोप जैसे ठंड, गर्मी व वर्षा से बचने के लिए मनुष्य इन्हीं जंगली जानवरों की खाल ओढ़कर अपना जीवन रक्षा कर लेता था। उनके भोजन के लिए प्रकृति का दूसरा उपहार फल-फूल था, जो आज भी हमारे खाद्‌य पदार्थों का प्रमुख अंग बना हुआ है। जैसे-जैसे मनुष्यों की जनसंख्या बढ़ती गई, उसके परिप्रेक्ष्य में प्रकृति-प्रदत्त खाद्‌य सामग्री के स्रोत कम होने लगे। ऐसी स्थिति में मनुष्यों को लंबे समय तक जीवन-निर्वाह करने के लिए पशुओं को पालने की

आवश्यकता महसूस हुई। शायद प्रारंभ में पशुओं को गोश्त के लिए ही पाला गया हो, परंतु धीरे-धीरे मनुष्यों की सोच में परिवर्तन के कारण वे कुछ पशुओं जैसे भेड़, बकरी एवं गायों को दूध के लिए पालने लगे। इनके खाने-पीने के प्रबंध के लिए वे ऐसे स्थानों का चयन करते थे जहाँ पशुओं के पीने के लिए पानी जैसे तालाब, झील एवं नदी इत्यादि हों। साथ ही साथ वे चारे अर्थात् प्राकृतिक वनस्पति की उपलब्धता का विशेष ध्यान रखते थे जिससे पशुओं के लिए खाद्‌य सामग्री प्राप्त होती रहे।

पारंपरिक खेती

आदि काल में खेती की शुरुआत जंगलों को काट कर हुई, क्योंकि आदि मानव जंगलों में निवास करता था तथा उसका जीवन पूर्णरूपेण बनोपज पर आधारित था। जनसंख्या बढ़ने के साथ ही जब मानव की आहार की आवश्यकता बढ़ी तो प्रकृति से प्राप्त फलों के साथ फसलों की खेती भी शुरू हुई। प्रारंभ में जंगल के कुछ हिस्से को काटकर खेती शुरू करते थे। जब उस स्थान से फसलों की उपज कम होने लगती थी। तो वे दूसरे स्थान का चयन कर लेते थे। इसका मुख्य कारण था उस समय प्रति व्यक्ति भू-क्षेत्रफल का अधिक होना। इसे स्थानांतरी कृषि या झूम कृषि कहते थे। जंगलों की मिट्‌टी में कार्बनिक पदार्थों की अधिकता के कारण पौधों की वृद्‌धि एवं विकास के लिए आवश्यक सभी पोषक तत्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के कारण फसलों का उत्पादन अच्छा होता था। परंतु धीरे-धीरे बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण भूमि को बदल कर खेती करना संभव न होने की स्थिति में वर्ष में एक भू-भाग में एक फसल लेकर जमीन को कुछ समय के लिए छोड़ देते थे, जिसे परती भूमि कहते हैं। अफ्रीका तथा एशिया के

कुछ भागों में अब भी इसका प्रयोग किया जाता है। इसके पीछे यही रहस्य था कि जमीन को कुछ समय के लिए छोड़ देने पर उस भू-भाग के पेड़-पौधों तथा फसलों के अवशेष सड़कर मिट्टी में ह्यूमस की मात्रा बढ़ा देते थे जिससे फसलों की पैदावार बढ़ जाती थी। इस प्रकार का ज्ञान मनुष्यों को वर्षों तक लगातार के अनुभव से प्राप्त हुआ। किसान भूमि की उर्वरता बढ़ाने के लिए राख, पशु खाद, खरपतवार एवं फसलों के अवशेष को सड़ाकर उसका कंपोस्ट के रूप में प्रयोग करने लगा। कुछ समय बाद उसको यह भी अनुभव हुआ कि जिस खेत में पहले दलहनी फसलों की बुवाई की गई थी उसमें अनाजों की फसल लेने पर उसकी उपज बढ़ गई। इस प्रकार फसले क्रमानुसार पैदा की जाने लगीं। इसके पीछे बाद में यही रहस्य मालूम हुआ कि दलहनी फसलें अपने जड़ो में पाए जाने वाले जीवाणुओं की सहायता से वायु-मंडल में पाया जाने वाला नाइट्रोजन भूमि को प्रदान करके उसकी उर्वरा शक्ति को बढ़ा देती है जिससे फसलों की पैदावार बढ़ जाती है। लेकिन समय की गति के साथ-साथ हमारी जनसंख्या और अधिक बढ़ती गई। साथ-साथ खाद्यान्नों की माँग भी उसी गति से बढ़ती गई। इसके फलस्वरूप खेती के तौर-तरीकों में काफी विकास हुआ तथा फसल उत्पादन के विभिन्न साधनों को विकसित किया गया। इनके प्रभाव से वर्ष में एक फसल के स्थान पर दो-तीन फसलें लेना शुरू किया गया। किंतु इससे कार्बनिक पदार्थों के प्राकृतिक विघटन हेतु समय न मिलने के कारण मिट्टी में ह्यूमस की मात्रा कम होने लगी तथा फसलों के अवशेष जलाए जाने लगे जिसके कारण मिट्टी के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगा एवं उसकी उर्वरा

शक्ति कम होने लगी। इससे फसलों की पैदावार कम होनी शुरू हो गई जो कि बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए एक अभिशाप सिद्ध हुआ।

हरित क्रांति अथवा आधुनिक कृषि का आगमन

विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान के विकास के साथ-साथ आधुनिक कृषि ने हमारी पारंपरिक कृषि में पदार्पण किया। सन् 1960 के दशक के पूर्व खाद्यान्नों में भारत बहुत ही पिछड़ा था। सन् 1942-43 में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। समय की मांग को देखते हुए सन् 1966-67 के दौरान डॉ. एम. एस. स्वामिनाथन एवं डॉ. वी. पी. पाल जैसे योग्य कृषि-वैज्ञानिकों द्वारा भारतीय भौगोलिक स्थितियों के अनुकूल किए जा रहे अनुसंधानों को हमारे देश के किसानों ने भर-पूर अपनाना प्रारंभ कर दिया। सिंचाई के लिए नई-नई विधियां खोजी गई, कीट और रोगों को केवल प्राकृतिक प्रकोप न मान कर उनके निवारण हेतु कीटनाशी रसायन उपलब्ध कराए जाने लगे, खरपतवार को समाप्त करने के लिए शाकनाशी रसायनों का प्रयोग किया जाने लगा, पुरानी किस्मों के स्थान पर अधिक उपज देने वाली नई उन्नत एवं संकर बीज की किस्मों को उपलब्ध कराया गया। कार्बनिक खाद के स्थान पर रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग को बढ़ावा दिया जाने लगा। नई कृषि-विधियों के साथ ही नया कृषि-प्रबंध भी उपलब्ध कराया गया। इन सबके परिणाम स्वरूप हमारे देश में हरित क्रांति आ गई जिससे हमारा राष्ट्र खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्म-निर्भर हो गया। हरित क्रांति के बाद हमारे देश के कृषि-वैज्ञानिकों के अथक प्रयास से अन्य क्रांतियों का दौर शुरू हुआ।

पहले तिलहनों की उपज मुख्य रूप से वर्षा पर आधारित थीं। पीली क्रांति के माध्यम से उसमें आशातीत सफलता प्राप्त की गई। श्वेत क्रांति के माध्यम से दुग्ध के क्षेत्र में, लाल क्रांति के माध्यम से फलों के क्षेत्र में एवं नीली क्रांति के माध्यम से मत्स्य उत्पादन में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की गई। साथ ही सब्जियों, गन्ना, आलू, चाय काफी, पटसन एवं अन्य फसलों के सबसे बड़े उत्पादक के रूप में भी हमारा देश विश्व के मानस पटल पर उभर कर आया।

हरित क्रांति की सीमाएं

आज जिस रफ्तार से हमारे देश के किसान अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए अधिक उपज देने वाली फसलों एवं संकर प्रजातियों का प्रयोग कर रहे हैं तथा साथ ही रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशियों एवं खरपतवार नाशी रसायनों तथा सिंचाई जल का अंधाधुंध प्रयोग करते जा रहे है उससे कृषि उत्पादकता में तो कई गुना वृद्धि अवश्य हुई है, परंतु एक सीमा के बाद फसलों की पैदावार एवं उनके गुणों में धीरे-धीरे गिरावट शुरू हो गई जो नीचे दी गई सारणी से स्पष्ट है —

सारणी - 1 : कुल खाद्यान्न उत्पादन

कुल प्राप्त खाद्यान्न उत्पादन (दस लाख टन)						लक्ष्य	
1995-96	1996-97	1997-98	1998-99	1999-2000	2000-01	2001-02	2006-07
180.04	199.03	193.01	203.06	208.87	196.13	220.05	243.02

सारणी - 2 : नवीं व दसवीं योजना के लिए निर्धारित उत्पादन लक्ष्य

खाद्यान्न	नवीं योजना	दसवीं योजना
चावल	94.0	103.0
गेहूँ	75.7	84.3
मोटे अनाज	32.6	34.4
दालें	18.4	21.5
खाद्य तेल	7.9	9.5
दूध	93.1	119.5
सब्जियां	93.6	110.7
फल	53.7	70.5
कुल खाद्यान्न	220.5 (2001-02)	243.2 (2006-07)

खाद्यान्नों की उत्पादन-क्षमता को कुप्रभावित करने वाली कुछ अन्य समस्याएं इस प्रकार हैः पोषक तत्वों की दक्षता में कमी, मृदा के अनेक पोषक तत्वों का असंतुलन, विषैली भारी धातुओं की मात्रा में वृद्धि, मिट्टी के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों में प्रतिकूल परिवर्तन, पानी का दुरुपयोग, मिट्टी एवं पानी का प्रदूषण, भूमि के लाभदायक जीवाणुओं का विनाश और फसलों के रोगों, कीट-ब्याधियों एवं खरपतवार में अप्रत्याशित वृद्धि।

इस समस्या का दूसरा पहलू 21वीं सदी से बढ़ती हुई आबादी के अनुपात में कृषि योग्य भूमि की कमी है। सन् 1951 में सीमांत कृषकों के पास 0.33 हे./ कृषक भूमि थी जो सन् 1961 में 0.30 हे./ कृषक, 1971 में 0.26 हे./ कृषक, 1981 में 0.20 हे./ कृषक, 1991 में 0.17 हे./ कृषक तथा 2001 में 0.14 हे./ कृषक रह गई है। स्पष्ट है कि यह निरंतर कम होती जा रही है। साथ ही उत्पादन के प्रमुख संसाधनों का दोहन भी

जिस तरह से हो रहा है उससे देश की बढ़ती हुई आबादी के लिए खाद्यान्न उपलब्ध कराना असंभव सा होता जा रहा है।

हरित क्रांति में खेती पर समग्रता से विचार नहीं किया गया। पौधों की वृद्धि एवं उनके विकास के लिए आवश्यक सभी प्रकार के पोषक तत्वों, कार्बनिक पदार्थों एवं उन पर निर्भर भूमि की सजीव सृष्टि अर्थात् लाभदायक सूक्ष्म जीवाणुओं की महत्वपूर्ण भूमिका को पूर्णतः उपेक्षित किया गया। फसल चक्र पर ध्यान न देने से एक ही प्रकार की फसल लगातार उगाने से भूमि में एक ही प्रकार के पोषक तत्वों की कमी हो गई एवं एक ही प्रकार के कीटों का प्रकोप बढ़ा। हरित क्रांति के साथ जो श्वेत क्रांति आई उसमें दूध के लिए विदेशी नस्ल के अधिक उत्पादकता वाले जानवरों की दुग्धशाला (डेअरी) का प्रचलन बढ़ा जिससे दूध की आसान उपलब्धता की वजह से एवं चारागाहों के धीरे-धीरे समाप्त होने के कारण पशुओं के चारे में कमी होने लगी। इसके कारण किसानों ने पशुओं को रखना कम कर दिया, जिससे पशुओं से मिलने वाले मल-मूत्र के माध्यमें से सहज रूप से प्राप्त पोषक तत्वों का अभाव हो गया और मिट्टी में कार्बनिक पदार्थों एवं सूक्ष्म जीवाणुओं की संख्या कम होती गई। इन सब बातों से मृदा की प्राकृतिक संरचना बिगड़ने लगी। परिणाम आज हमारे सामने है। पंजाब एवं हरियाणा जैसे प्रदेशों में रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग इस सीमा तक किया गया कि भूमि बंजर होने लगी। इन दोनों प्रदेशों की बढ़ती हुई बंजर भूमि इसका साक्षात् प्रमाण है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कृषि एवं कृषक दोनों की स्थिति विचारणीय है। किसान के लिए कृषि के माध्यम से अपना पेट भरना मुश्किल हो गया है। हरित क्रांति के बाद अनाज का उत्पादन भले ही बढ़ा हो, पर किसानों पर आर्थिक बोझ बहुत अधिक बढ़ा है और धीरे-

धीरे मृदा की उत्पादन क्षमता कम होती जा रही है। खेती आज स्वावलंबी न होकर बाजार-व्यवस्था पर ज्यादा आधारित हो गई है। बीज बोने से लेकर फसल काटने और बेचने तक किसान का सार पैसा बाजार में घूमता रहता ह। किसान के हाथ, अथक परिश्रम के बाद भी, खाली रह जाते है। इसलिए आज किसान का आत्मविश्वास डगमगा गया है, वह आत्महत्या करने पर मजबूर हो रहा है। आधुनिकीकरण के नाम पर खेती का व्यापारीकरण हो रहा है। खेती का मुख्य उद्देश्य जीवन-पोषण के लिए अनाज उगाना कम हो गया है और उद्योगों के लिए कच्चा माल उगाना अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। खेती छोटे किसानों के हाथ से छूटकर बड़े किसानों और उद्योगपतियों की संपत्ति बनती जा रही है। आज कृषि एवं कृषक दोनों की परिभाषाएं बदल गई हैं।

अतः आज इस स्थिति पर विचार करना अत्यंत आवश्यक है कि हम अपनी भविष्य की पीढ़ी को क्या देने जा रहे हैं। बंजर भूमि? कृषि के नाम पर बड़े किसानों की गुलामी अथवा शहरों में रोजगार तलाश करने की अंधी दौड़?

हरित क्रांति को पर्यावरण के अनुकूल बनाएं

इस समस्या का विकल्प एक ही है "मिट्टी के प्राकृतिक तंत्र को पुनर्जीवित करना अथवा पुनःस्थापित करना।" कृषि को प्राकृतिक रूप प्रदान करने के लिए खेतों की कम से कम जुताई करनी चाहिए तथा मृदा के अंदर पाए जाने वाले 'प्रकृति के हलवाहे' केचुओं की मदद से कुदरती तौर पर खेतों की जुताई को बढ़ावा देना चाहिए जो फसलों के अवशेष, खरपतवार एवं कार्बनिक पदार्थों को विघटित करके मिट्टी का और पेड़ पौधों का परस्पर-प्राकृतिक संबंध स्थापित करती है।

अध्याय - 2

प्राकृतिक खेती : परिभाषा एवं सिद्धांत

भारत परंपरा से ही कृषि प्रधान देश रहा है। हमारे देश के कृषकों ने अपनी मेहनत एवं कौशल से खेती द्वारा भरपूर अनाज उगाया है। किसान अपने श्रम, अनुभव और परख के आधार पर भूमि व प्रकृति के अनुसार हजारों वर्षों से अपने परिवार, समाज व देश की सभी प्रकार के धान्यों की आवश्यकता को पूर्ण करने में सक्षम रहे हैं। 'अन्नं बहु कुर्वीत': अनाज का आदान प्रदान करना, बाँटना एवं अतिथि को भोजन देना भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का प्रमुख आधार है।

एक प्रकार से पृथ्वी के सभी उत्पाद प्रकृति के ही परिवर्तित रूप है। हकीकत में प्रकृति में दखल के बिना मनुष्य का जीवन संभव नहीं है। किंतु दखलंदाजी उस स्तर तक नहीं होनी चाहिए कि हमारा उत्पादन ही प्रभावित होने लगे। समूचे विश्व के पर्यावरणीय स्वरूप में गिरावट का मुख्य कारण असमगतिशील उत्पादन प्रक्रिया द्वारा बढ़ता असंतुलन है। अतः यह आवश्यक है कि आर्थिक वृद्धि की योजनाएं उत्पादन की आनुपातिक वृद्धि के ही आधार पर बनानी चाहिए। साथ ही हमें न सिर्फ सुस्पष्ट लघु अवधि व दीर्घ अवधि के आर्थिक लाभों का ध्यान रखना चाहिए अपितु साथ-

साथ इसके अंतर्गत निहित प्राकृतिक संसाधनों पर विकास के दुष्प्रभावों पर भी ध्यान देते रहना चाहिए तथा उसे दूर करने के लिए प्राकृतिक खेती के मूल सिद्धांत को अपनाना चाहिए।

प्राकृतिक संसाधनों का सिमटना

उत्पादकता के संदर्भ में विकास के प्रमुखतः प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित होने के कारण इन संसाधनों का ह्रास हो रहा है तथा इनकी प्राथमिक उत्पादकता में कमी आ रही है। इसके बावजूद योजना निर्माताओं एवं क्रियान्वयन कर्ताओं द्वारा टिकाऊ संसाधनों के टिकाऊपन के प्राथमिक कारणों पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। नियोजन एवं विकास के परिप्रेक्ष्य में स्वावलंबी गांवों तथा परंपरागत ग्रामीण दक्षता के उपयोग के सिद्धांत को पूर्णतः उपेक्षित किया जा रहा है, जिसके कारण प्राकृतिक संसाधनों का ह्रास परिलक्षित हो रहा है। यह इस प्रकार है —

* मिट्टी की उपजाऊ शक्ति और मृदा के भौतिक रासायनिक एवं जैविक गुणों का संरक्षण किए बगैर लगातार सघन खेती की जाए तो हरी-भरी जमीनें रेगिस्तानों में बदल जाएंगी।
* हमारे पास सदियों से जो अनूठी प्राकृतिक संपदा पानी के रूप में बची हुई थी उसका प्रबंधन अवैज्ञानिक तरीके से करने से कई समस्याएं दृष्टिगोचर हो रही है। सिंचाई के जल के गलत उपयोग से जलग्रहण क्षेत्र में जल-जमाव एवं जल निकास की समस्याएं, अत्यधिक बाढ़, लवणीयता एवं क्षारीयता के दुष्परिणाम भी सामने आते जा रहे हैं।
* रासायनिक उर्वरकों एवं दवाओं का अंधाधुंध इस्तेमाल करने और पारिस्थितिकीय दृष्टि से अनुकूल फसल प्रबंधन को न

अपनाने से उपज में वृद्धि की ऊँची दरों को बनाए रखना आगे मुश्किल हो रहा है। साथ ही इनके अवशेषों से सतही जल एवं भूमिगत जल भी प्रदूषित हो रहा है।

* कीटनाशी दवाओं, फंफूदनाशियों और खरपतवार नाशी दवाओं के अंधाधुंध इस्तेमाल से जैविक संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है, जिससे कैंसर तथा दूसरे रोगों का अनुपात बढ़ सकता है, क्योंकि इन जहरीली दवाओं का असर अनाज के दानों ओर अनाज के अन्य खाने-योग्य अवयवों में जमा हो जाता है।
* स्थानीय दृष्टि से अनुकूलित असंख्य देशी किस्मों की जगह अधिक उपज देने वाली संकर किस्मों को तेजी से प्रसारित करके हम बहुत से बीमारियों को बुलावा दे रहे है—जैसे बाजरे में अरगट की बीमारी का प्रकोप एवं गेहूँ में रतुआ का प्रकोप बढ़ रहा है।
* खेती के गलत तरीकों ने जल और वायु अपरदन से ऊपरी मिट्टी के ह्रास जैसी विकट समस्याओं को जन्म दिया है।
* जैव विविधता में कमी और प्राकृतिक वनस्पतियों और जीवों के हटने से सूक्ष्म जीव द्रव्य संसाधनों का ह्रास हो रहा है।
* शहरों एवं बड़े-बड़े उद्योगों से निकले मल जल का प्रयोग बिना शुद्धीकरण के करने पर फसलें, मिट्टी, भूमिगत जल एवं जल स्रोत प्रदूषित हो रहे हैं।
* अपर्याप्त अपवाह से उत्पन्न वाटर लॉगिंग, अति निष्कर्षण के कारण भूमिगत जल में कमी आ रही है।
* वनों की कटाई से तथा खतरनाक उद्योगों एवं खानों की चिमनियों तथा मोटर वाहनों से रात दिन निकलने वाली कार्बन डाई ऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड, हाइड्रोकार्बन,

क्लोरो फ्लोरो कार्बन आदि गैसे वायुमंडल के तापक्रम को बढ़ाने के साथ ही उसमें जहर घोल रही है।

अब हमारे सामने एक बहुत बड़ी चुनौती यह है कि कृषि-प्रगति में हरित क्रांति वाली शैली में पारिस्थितिक स्थायित्व और समता की नई दिशाएं भी जोड़नी चाहिए।

अतः कृषि की पैदावार बढ़ाने में जो भी परिवर्तन परंपरागत कृषि में किए जा रहे हैं उनके दूरगामी प्रभावों को समझे बगैर, एवं बुनियादी वैज्ञानिक आधार खड़ा किए बिना, हम कृषि की प्रगति को निभा नहीं पाएंगे और आगे चलकर कृषि में समृद्धि का युग लाने की बजाय एक ऐसे दौर में पहुँच रहे है जहाँ खेती की बुनियाद के लिए ही खतरा पैदा हो रहा है। अतः ऐसी स्थिति में प्राकृतिक खेती को अपनाकर प्रकृति की अनमोल धरोहर मिट्टी, जल, वायु एवं प्राकृतिक संसाधनों में हो रहे उपरोक्त दुष्परिणामों को कम या समाप्त किया जा सकता है।

प्राकृतिक खेती की परिभाषा

प्राकृतिक खेती का अर्थ है "कृषि एवं प्राकृतिक संसाधनों का उपयुक्त प्रबधन जिसके द्वारा फसलोत्पादन में समगतिशीलता बनाए रखते हुए तथा प्राकृतिक संसाधनों को पर्यावरणीय दृष्टिकोण से शुद्ध रखते हुए आम जनता की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।"

"टिकाऊ खेती में कृषि संसाधनों का सफल प्रबंध होना चाहिए ताकि हमारी नई-नई आवश्यकताएं पूरी हो सकें, साथ ही पर्यावरण में सुधार हो या गिरावट न आए और प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा हो सके।"

—खाद्य एवं कृषि संगठन, 1993

"बदलते पर्यावरण में धरती का तापमान बढ़ना, समुद्र के स्तर में बढ़ोतरी एवं ओजोन की परत में क्षति आदि विषमताएं सम्मिलित है। इन सबसे बावजूद कृषि को उसके टिकाऊ स्वरूप के अनुकूल ढालना होगा ताकि दुनिया की बढ़ती आबादी को खिलाने लायक अनाज पैदा करने के लिए उत्पादकता का बढ़ा हुआ स्तर बराबर बना रहे।"

—एम. एस. स्वामिनाथन (1993)

21वीं सदी में भारतीय समाज़ के लिए खाद्यान्नों की आवश्यकता मुख्य रूप से दो प्रकार की होगी —

(क) प्रति व्यक्ति न्यूनतम आवश्यक खाद्य की पूर्ति,

(ख) प्रति व्यक्ति पर्याप्त एवं पौष्टिक खाद्य की पूर्ति।

* पहली आवश्यकता का महत्व 21वीं सदी में सबसे अधिक होगा क्योंकि इसकी विफलता पर देश में भुखमरी फैल सकती है।
* दूसरी आवश्यकता की पूर्ति तभी संभव होनी जब हम खाद्यान्न उत्पादन में आत्म निर्भर बनें।

21वीं सदी की चुनौतियों को तूल देने वाली समस्याओं में आर्थिक समस्या, ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ती गरीबी तथा कुपोषण मुख्य हैं। इसलिए जनसंख्या तथा कृषि उत्पादन में सही तालमेल रखने के लिए यह आवश्यक है कि प्राकृतिक संसाधनों, जैसे मृदा, जल, वनस्पति, पशु एवं मानव-वर्गों का संयुक्त रूप से अध्ययन किया जाए। उदाहरणस्वरूप प्राकृतिक संसाधनों को उचित रूप से गुणात्मक एवं मात्रात्मक आधार पर इस प्रकार संचित एवं प्रबंधित किया जाए कि पारिस्थितिकी (इकोलौजी) को बिना हानि पहुँचाएं उत्पादन एवं उत्पादकता अनंत समय तक निरंतर बढ़ती रहे।

एक देशी कहावत है कि मृदा से अन्न उत्पादन होता है, समुद्र से जल प्राप्त होता है, जंगलों से लकड़ी, चरागाहों से चारा एवं बाग-बगीचों से फल प्राप्त होते हैं। अगर हम इनमें से किसी एक को भी खतरे में डालेंगे तो हम भविष्य को तथा अपनी भावी पीढ़ी के जीवन को खतरे में डालेंगे।

प्राकृतिक खेती के मूल सिद्धांत

पारिस्थितिकीय खेती (इकोलॉजिकल फार्मिंग) का लक्ष्य पूरा करने के लिए कई नुस्खे सुझाए गए हैं। जापान के मासानोबु फुकोका (1978) ने कृषि को प्राकृतिक स्वरूप प्रदान करने के लिए मुख्य रूप से इन चार बिंदुओं की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था —

* पहला, मिट्टी की जुताई करने वाले बड़े-बड़े यंत्रों जैसे ट्रैक्टर, हैरो, कल्टीवेटर द्वारा मृदा पलटने पर उससे होने वाले दुष्परिणामों (जैसे मिट्टी का क्षरण, मृदा सतह का कठोर हो जाना, सूक्ष्म जीवों की क्रियाशीलता एवं संख्या पर बुरा प्रभाव पड़ना) तथा जैविक क्रियाओं पर पड़ने वाले बुरे प्रभाव को समाप्त या कम करने के लिए पारंपरिक विधियों जैसे देशी हल का उपयोग करना। मृदा के अंदर पाए जाने वाले असंख्य जीवों एवं 'प्रकृति के हलवाहे' केंचुए की मदद से कुदरती तौर पर ही मिट्टी की जुताई हो जाती है। अर्थात् न्यूनतम भूपरिष्करण या शून्य भूपरिष्करण को अपनाना चाहिए।
* दूसरा, रासायनिक उर्वरकों के स्थान पर जैविक खादों का उपयोग करना चाहिए।
* तीसरा, रासायनिक कीटनाशियों के स्थान पर जैविक कीटनाशियों का उपयोग करना चाहिए।

* चौथा, रासायनिक शाकनाशियों के स्थान जैविक शाकनाशी एवं अन्य विधियों का उपयोग करना चाहिए।

अमेरिका की नेशनल रिसर्च काउंसिल ने "आल्टरनेटिव एग्रीकल्चर" (1989) पर प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में वैकल्पिक कृषि की व्याख्या करते हुए बताया है कि यह खाद्य या रेशा पैदा करने की ऐसी प्रणाली है, जिसमें निम्नलिखित लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है —

(क) कृषि उत्पादन प्रणालियों में प्राकृतिक प्रक्रियाओं को शामिल करना जैसे कि पोषक तत्वों का चक्र, नाइट्रोजन यौगिकीकरण और कीट-कीटभक्षी संबंध।

(ख) जो कृषि-निवेश पर्यावरण तथा कृषकों और उपभोक्ताओं के स्वास्थ्य को अत्यधिक हानि पहुँचाने की क्षमता रखते है उनका इस्तेमाल कम करना।

(ग) पेड़ पौधों और जीव-जंतुओं की जातियों की आनुवंशिक संभावनाओं का सर्वाधिक उपयोग करना।

(घ) वर्तमान उत्पादन-स्तरों का दीर्घकालीन टिकाऊपन सुनिश्चित करने के लिए कृषि भूमि की भौतिक सीमाओं और उत्पादन क्षमताओं के साथ फसल प्रणालियों का तालमेल बढ़ाना।

(च) मिट्टी, पानी, ऊर्जा और जैविक संसाधनों के संरक्षण और कृषि प्रबंध में सुधार लाना।

प्राकृतिक खेती के प्रमुख कारक

प्राकृतिक खेती को प्रोत्साहन देने के लिए निम्नलिखित प्रमुख कारकों पर विशेष ध्यान देना पड़ेगा —

(1) **मृदा** — जैविक संभावना और जैविक विविधता दोनों के आधार पर भूमि को मुख्य रूप से संरक्षण, सुधार और टिकाऊ

सघनीकरण क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है। कृषि-योग्य भूमियों का उपयोग दूसरे कामों में करने के खिलाफ कानून बनाना चाहिए। तथा मिट्टी की स्थिति एवं दशा पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। भूमि सुधार की पारिस्थितिकी के सिद्धांत अपना कर बंजर और खराब मिट्टी को सुधार कर उनकी खोई हुई जैविक संभावना का पुनरुद्धार आवश्यक है।

भूमि-क्षमता के अनुसार भूमि के सही उपयोग पर ही टिकाऊ उत्पादकता निर्भर करती है। भूमि का उपयोग बहुत हद तक भू-भाग एवं मृदा के प्राकृतिक गुणों, भूमि की क्षमता तथा सिंचाई की सरलता से संबंधित होना चाहिए। इस प्रकार के मानकों का कोई विस्तृत सर्वेक्षण एवं मूल्यांकन अब तक नहीं हुआ है जबकि करोड़ों रुपये इस तरह के विकास कार्यक्रमों पर खर्च किए जा चुके हैं। जल की उपलब्धता एवं भू-भाग की स्थिति अलग-अलग खेत में भिन्न-भिन्न होती है। फिर भी वर्तमान समय में सिंचाई व्यवस्था में उपरोक्त बातों का ध्यान नहीं रखा जा रहा है। वर्तमान समय में फसलों का चुनाव पहले किया जाता है तथा अन्य उपाय बाद में अपनाए जाते हैं। किन आवश्यकता इस बात की है कि पहले मृदा की क्षमता को जाना जाए तथा उसके आधार पर फसल का चुनाव किया जाए। इससे अक्सर मिट्टी की दशा खराब होती है एवं उपज में गिरावट आती है। सिंचाई एक दुधारी तलवार की तरह है। यदि इसका समुचित उपयोग किया जाए तो सम गतिशील उत्पादकता हासिल हो सकती है और यदि ठीक प्रकार से उपयोग नहीं किया गया तो लंबी अवधि में उपज पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(2) **जल** — जमीन की सतह पर तथा उसके नीचे उपलब्ध जल संसाधनों के टिकाऊ प्रबंध के लिए पानी बचाने, समान जल-

वितरण करने, पानी पहुँचाने और उसका इस्तेमाल करने में दक्षता बढ़ाना बेहद जरूरी है। नदी, वर्षा-जल, भू-जल और समुद्र-जल के सही एवं सुनियोजित उपयोग के साथ-साथ मल-जल और औद्योगिक अपजल को शुद्ध करके उसे फिर से उपयोग के लिए तैयार करने का भी प्रबंध करना चाहिए।

(3) **भूमि एवं जल संसाधन की वस्तु स्थिति** — भूमि एवं जल सह-संबंधित संसाधन हैं और इनका प्रबंधन इसी रूप में होना चाहिए। जल एवं भूमि का संबंध अपृथकीय है—ठीक वैसे ही जैसे शरीर में रक्त और मांस का। इसी प्रकार का संबंध जलीय चक्र में धरातल एवं भूमिगत जल का है। भूमि आधारित सभी उत्पादन गतिविधियां मृदा, जल, जैव पदार्थ एवं भू-आकृति पर निर्भर करती हैं। इसलिए इन अवयवों के समन्वित प्रबंधन की आवश्यकता है जिसका कि वर्तमान में अभाव है।

(4) **पोषक तत्व** — भारत की मिट्टी प्यासी ही नहीं भूखी भी हो चुकी है क्योंकि लगातार रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग से उसकी शक्ति क्षीण हो चुकी है। इसे अब मात्र प्राकृतिक खेती द्वारा ही दूर किया जा सकता है। अतः पौधों को पोषक तत्व मुहैया कराने के लिए पुनः कृषि के प्राकृतिक पदार्थों जैसे, गोबर की खाद, कंपोस्ट, वर्मी कंपोस्ट, उचित फसल चक्र में दलहनी फसलों का समावेश, हरी खाद और जैव उर्वरकों का भरपूर इस्तेमाल किया जाना चाहिए। इन उपायों से मिट्टी की भौतिक, रासायनिक, जैविक एवं उर्वरा शक्ति में सुधार होता है।

(5) **कीट एवं खरपतवार प्रबंधन** — उष्ण-कटिबंधीय एवं सम-शीतोष्ण कृषि के क्षेत्र में कीड़े-मकोड़ों, बीमारियों एवं खरपतवारों की रोकथाम आज के समय की सबसे बड़ी चुनौती है। इनपर केवल प्राकृतिक खेती द्वारा ही नियंत्रण किया जा सकता है ऐसी

स्थिति में प्राकृतिक खेती का व्यापक रूप में विकास और प्रसार करना चाहिए। इसके अंतर्गत मुख्य रूप से जैविक कीटनाशी एवं जैविक शाकनाशी का प्रयोग करना चाहिए। नीम जैसे पौधों से प्राप्त वानस्पतिक कीटनाशियों का भी बड़े पैमाने पर प्रचार किया जाना चाहिए। जैविक और अजैविक दोनों प्रकार के दबावों के प्रति बहुरोधिता वाली किस्में विकसित करने के लिए आनुवंशिक विविधता का संरक्षण करना और बड़े पैमाने पर उसका इस्तेमाल करना भी आवश्यक है।

प्राकृतिक खेती के मूल सिद्धांतों एवं उनके महत्वपूर्ण कारकों को संकलित करते हुए इन पर अगले अध्यायों में विस्तृत रूप में प्रकाश डाला गया है।

अध्याय - 3

प्राकृतिक खेती एवं पर्यावरण

प्राकृतिक खेती क्यों?

हम प्रकृति के जिस आँगन में रहते हुए निरंतर क्रियाशील रहते है उसे पर्यावरण कहते है। हमारे जीवन को आधार प्रदान करने वाली तीन प्रमुख प्राकृतिक धरोहरें वायु, पानी एवं मृदा हैं। इन तीनों में मृदा एवं पानी प्रबंधकीय दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण है। भूमि एवं पानी में से किसी एक का प्रबंधन दूसरे को पूर्णतया प्रभावित करता है। अतः पर्यावरण के इन तीनों अवयवों को पर्यावरणीय दृष्टिकोण से सुरक्षित, संरक्षित टिकाऊ एवं गतिशील बनाए रखने के लिए हम सभी को प्राकृतिक खेती के मूल सिद्धांतों को अपनाना होगा। तभी हम अपनी इस अमूल्य धरोहर को आने वाली पीढ़ी के लिए बचा सकते हैं।

आधुनिक कृषि पर्यावरणीय दृष्टिकोण से टिकाऊ?

आधुनिक कृषि अधिक उपज होने वाली बाहरी प्रजातियों पर आधारित है। ये प्रजातियां मुख्यतया अत्यधिक उर्वरकों, सिंचाई एवं कीटनाशियों के उपयोग पर निर्भर हैं। ये विधियां आर्थिक दृष्टि से खर्चीली एवं पर्यावरणीय दृष्टिकोण से टिकाऊ भी नहीं

है। परिणामस्वरूप मृदा का ह्रास होता जा रहा है। इसकी भरपायी नही की जा सकती है। मृदा के भौतिक, रासायनिक, जैविक गुणों, सूक्ष्म वनस्पति, जल, चारे और खाद्य सामग्री की गुणवत्ता पर स्पष्ट रूप से इनका बुरा प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः मृदा शनैः शनैः मृतप्राय होती जा रही है। इतना ही नही राष्ट्रीय एवं बहुराष्ट्रीय कंपनियां भी उर्वरकों एवं रसायनों के अंधाधुंध उपयोग हेतु प्रचार-प्रसार एवं विज्ञापन कर उक्त परिणाम में योगदान दे रही है।

रासायनिक उर्वरकों का स्वास्थ्य पर प्रभाव

पौधों की वृद्धि एवं विकास के लिए मुख्य रूप से 16 तत्वों की आवश्यकता पड़ती है जिनकी पूर्ति रासायनिक उर्वरकों द्वारा करना संभव नहीं होता है। रासायनिक उर्वरकों का निर्माण मात्र कुछ खनिज तत्वों से होता है। शेष तत्वों की पूर्ति मृदा से होती रहती है। अधिक रसायनों से मृदा में पाए जाने वाले पोषक तत्वों का संतुलन बिगड़ जाता है, जिसके कारण पौधों की रोग-प्रतिरोधक क्षमता काफी कम हो जाती है तथा ये खाद्य पदार्थ मनुष्य तथा पशुओं के लिए अपने स्वास्थ्यवर्धक नहीं रह जाते हैं। यद्यपि नाइट्रोजन धारी उर्वरकों का प्रयोग करने से पौधों की वानस्पतिक वृद्धि होती है, परंतु उनकी प्रोटीन की गुणवत्ता में काफी कमी आ जाती है। मक्का एवं गेहूँ की फसल में मुख्य रूप से ऐसा देखा गया है। फसलों में अत्यधिक नाइट्रोजन धारी उर्वरकों के प्रयोग से खाद्य पदार्थों में पाए जाने वाले प्रोटीन-अणु के भीतर विभिन्न ऐमीनो अम्लों का संतुलन भी बिगड़ जाता है।

रासायनिक उर्वरकों द्वारा ली जाने वाली फसलों में देखा गया है कि इससे फसल, फल तथा सब्जी का आकार बड़ा हो जाता है। इन्हें कीटाणु आसानी से खराब कर देते हैं तथा इन्हें अधिक समय तक रखा भी नहीं जा सकता है। कारण यह है कि ये प्राकृतिक ढंग से उत्पन्न की गई वस्तुओं की अपेक्षा शीघ्र सड़ने

लगते हैं। प्राकृतिक जैविक खादों एवं जैव उर्वरकों से उत्पन्न की गयी वस्तुओं तथा रासायनिक उर्वरकों से उत्पन्न की गई वस्तुओं के खाद में भी अंतर देखा गया है जिसके कारण प्राकृतिक खेती द्वारा पैदा की जाने वाली फसलों की मांग वर्तमान युग में बढ़ती जा रही है। रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग जब आलू, बंदगोभी, मूली, टमाटर, बैगन, सेब एवं पालक पर किया तो विदित हुआ कि उनकी संग्रह-क्षमता बहुत घट गई एवं स्वाद भी कम हो गया।

पिछले 25 वर्षों में उर्वरकों में नाइट्रोजन का अत्यधिक प्रयोग हो रहा है। जिसके कारण मानव, मवेशी तथा पर्यावरण सभी दुष्प्रभावित हो रहे हैं। वस्तुतः बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ' आंदोलन में नाइट्रोजनी उर्वरकों का अत्यधिक उपयोग हो रहा है। नाइट्रोजन उर्वरकों में भी हमारे देश में सर्वाधिक उपयोग यूरिया का किया जा रहा है, जो लगभग 78 प्रतिशत है। नाइट्रोजनीय उर्वरकों से उत्पन्न नाइट्रेट भूजल तथा अन्य जलाशयों में निक्षालित हो जाते हैं। सामान्यतः हल्के गठन वाली मृदाओं के उच्च रासायनिक उर्वरीकरण के कारण भू-जल में नाइट्रेट प्रदूषण प्रारंभ होने लगता है।

जल में उपस्थित अकार्बनिक नाइट्रेट तथा नाइट्राइट का जब शिशुओं द्वारा उपयोग किया जाता है तो मिथेमोग्लोबिनेमिया के कारण एक प्रकार का साइनोसिस रोग हो जाता है। नाइट्रेट सीधा हीमोग्लोबिन को मेथेमोग्लोबिन में परिवर्तित नहीं करता, बल्कि आंत में विद्यमान जीवाणुओं के कारण उसे पहले नाइट्राइट में बदलता है। फिर यह मेथेमोग्लोबिन में परिवर्तित हो जाता है। जिसके कारण हीमोग्लोबिन की ऑक्सीजन वहन करने की क्षमता क्षीण हो जाती है। यह कष्ट उन शिशुओं को अधिक होता है जिन्हें कृत्रिम दूध उच्च नाइट्रेट युक्त जल मिलाकर पिलाया जाता है, अथवा जिनकी माताएं अत्यधिक नाइट्रेट जल का सेवन करती हैं। प्राकृतिक रूप से नाइट्रेट मृदा-जल, वनस्पतियों, मांस आदि में भी

पाया जाता है। वायु प्रदूषण के कारण नाइट्रेट की अल्प मात्रा वायु में भी पाई जाती है।

आज कल साग-सब्जियों में भी नाइट्रेट की काफी मात्रा पाई जाने लगी है। विशेष तौर से अस्वस्थ व्यक्तियों तथा बच्चों के लिए इनका सेवन बहुत हानिकारक है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आमाशय में विद्यमान जीवाणु नाइट्रेट से सीधे रक्त के हीमोग्लोबिन में जा सकते है। इस कारण रक्त की ऑक्सीजन-वहन की क्षमता में कमी हो जाती है तथा फेफड़े से कोशिकाओं तक ऑक्सीजन उचित दर से नही पहुंच पाने के कारण कष्टश्वसन की आशंका रहती है। कई वैज्ञानिकों के अनुसार उच्च नाइट्रेट युक्त जल पीने से कैंसर जैसे भयानक रोग भी हो सकते है क्योंकि नाइट्रेट का नाइट्राइट में तथा तत्पश्चात् आर्थोनाइट्रोसोऐमीन में परिवर्तन कैंसर को पैदा करता है। अधिक नाइट्रेट युक्त जल तथा नाइट्रोजनीय उर्वरकों के अधिक उपयोग के कारण कई पशुओं के गर्भ गिरने एवं उनकी मृत्यु हो जाने के परिणाम भी देखे गए हैं। नाइट्रोजनीय उर्वरकों से मानव स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों को नीचे की सारणी में दर्शाया गया है :

नाइट्रोजनीय उर्वरकों का स्वास्थ्य पर प्रभाव

कारक	दुष्प्रभाव	
	मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव	पर्यावरण पर प्रभाव
नाइट्रोजनीय उर्वरक में विद्यमान नाइट्रेट	ब्लूबेबीज, अथवा मेथेमोग्लोबिनेमिया कैंसर, श्वसन में अवरोध	—कुपोषण —वायु एवं जल प्रदूषण —पौध विषाक्तता —पारितंत्र में असंतुलन —अत्यधिक पौध वृद्धि —क्षोभमंडल में ओजोनक्षरण

रासायनिक उर्वरकों का अत्यधिक उपयोग प्राणियों के साथ-साथ पर्यावरण को भी दुष्प्रभावित करता है क्योंकि ये समीपस्थ क्षेत्रों में कुपोषण को बढ़ावा देते हैं। जलाशयों में विशेष कुपोषण के फलस्वरूप पारितंत्र में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। उर्वरकों तथा अन्य रसायनों से हमारे पर्यावरण में तीन प्रकार से प्रदूषण होता हैः वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण तथा भारी धातुओं से मृदा प्रदूषण।

वायु प्रदूषण की समस्या तो उर्वरक निर्माण प्रक्रिया के साथ ही प्रारंभ हो जाती है। नाइट्रेट-मिश्रित नाइट्रोजनयुक्त उर्वरकों तथा नाइट्रो फॉस्फेट के निर्माण में नाइट्रिक अम्ल का उपयोग होता है। उर्वरक निर्माण संयंत्रों में नाइट्रिक अम्ल बनाते समय नाइट्रोजन के ऑक्साइड वाली विषैली गैसें निकलती है जो वायुमंडल की गैसों के साथ मिल जाती हैं। इससे वायु प्रदूषित होती है। इसी प्रकार अमोनियम सल्फेट का भी प्रयोग होता है। इन रासायनिक उर्वरकों की निर्माण प्रक्रिया में सल्फर-डाई ऑक्साइड की कुछ मात्रा सल्फर डाइ-ऑक्साइड में परिवर्तित न होने के कारण यह वायुमंडल में पहुंच कर वायु को प्रदूषित करती है।

इसी प्रकार सुपर-फॉस्फेट, फॉस्फोरस अम्ल तथा नाइट्रोफॉस्फेट उर्वरकों को बनाने में फास्फेट रॉक का प्रयोग किया जाता है। फ्लोरीन इस शैल पदार्थ का एक घटक है। उर्वरक निर्माण के दौरान फ्लोरीन गैस के रूप में निकलकर वायुमंडल में मिलती है जिससे वायु प्रदूषित होती है। फ्लोरीन का अधिक सांद्रण मनुष्यों तथा मवेशियों के स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक होता है। यह देखा गया है कि वर्षा के दौरान इन्हीं गैसों के ऑक्साइड जब पानी से संयोग करते है तब वे विषैले अम्ल बन जाते हैं। ये तेजाबी या अम्लीय वर्षा के रूप में पृथ्वी पर आते है। इससे

फसलों, पौधों, नदियों तथा जलीय प्राणियों को बहुत हानि होती है। उर्वरकों का अत्यधिक उपयोग जल को भी प्रदूषित करता है। सतही जल में नाइट्रेट तथा फास्फेट की मात्रा बढ़ने से शैवाल तथा पौधों के विघटन के समय जैविक ऑक्सीजन की मांग बढ़ जाती है। यह क्रिया यूट्रोफिकेशन अथवा सुपोषण कहलाती है। अतः स्पष्ट है कि जलीय पर्यावरण भी उर्वरकों तथा अन्य रासायनिक तत्वों के कृषि में उपयोग के कारण प्रभावित होता है।

अतः आधुनिक कृषि में रासायनिक उर्वरकों का अत्यधिक उपयोग मानव, पौधों, जंतुओं तथा पर्यावरण को प्रदूषित कर रहा है। केवल जैविक खादों, कंपोस्ट, हरी खाद एवं जैव उर्वरकों का मृदा में प्रयोग करके उपरोक्त हानिकारक प्रभावों से छुटकारा पाया जा सकता है।

कीटनाशकों का पर्यावरणीय प्रभाव

हमारी आधुनिक कृषि वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है। हमारे देश की आबादी निरंतर बढ़ती जा रही है और अब एक अरब की सीमा पार चुकी है। ऐसी परिस्थितियों में सभी के लिए भरपेट भोजन की व्यवस्था करने का दायित्व हमारे देश के कृषि-वैज्ञानिकों एवं कृषक-समाज पर निर्भर करता है। अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए हमारी कृषि पूर्णतयाः रायानिक उर्वरकों, कीटनाशियों एवं खरपतवार नाशी दवाओं पर निर्भर हो गई। निःसंदेह इससे खाद्य-उत्पादन में तो हम आत्मनिर्भर हुए परंतु वहीं दूसरी ओर हमारी मृदा, जल एवं वायु प्रदूषित होते जा रहे हैं तथा इनके अवशेष हमारे खाद्य पदार्थों में पहुँच कर हमारे स्वास्थ्य को कुप्रभावित करने लगे हैं।

कीटनाशियों के रूप में प्रतिवर्ष कृषि रसायनों की लगभग 1,00,000 मीट्रिक टन मात्रा प्रयोग की जाती है। इनका प्रयोग

मुख्यतया फसलों, सब्जियों एवं फलों के कीटों को मारने के लिए किया जाता है। इन जैवनाशकों में मुख्य रूप से कीटनाशी (77%) खरपतवारनाशी (13%) फफूंदीनाशी (8.6%) तथा चूहेमार दवाएं (1%) शामिल है। अधिकांश कीटनाशी पानी में कम घुलनशील होते हैं तथा इनकी भूमि में गतिशीलता भी कम होती है। इसके कारण ये कीटनाशी भूमि में काफी समय तक उपस्थित बने रहते है। उदाहरण के तौर पर वी.एच.सी. का भूमि पर अवशिष्ट प्रभाव 10 वर्षों से अधिक तक बना रहता है। इस प्रभाव के कारण वी. एच. सी. के अवशेष जानवरों के दूध, मांस व अनाज आदि के माध्यम से मानव शरीर तक पहुँचते रहते हैं। साथ ही इस प्रकार के कीटनाशी भूमि तथा जल के लाभदायक जीव जंतुओं को भी नष्ट करते रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप पारिस्थितिक असंतुलन उत्पन्न होता है। इस प्रकार कीटनाशियों के लगातार प्रयोग से जहाँ मानव-स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है वहीं ये ऐसे जीव-जंतुओं को भी समाप्त कर देते है जिनको समाप्त करने का कोई उद्देश्य नहीं होता है। यांग (1987) के अध्ययन के अनुसार प्रयोग किए गए कीटनाशियों का 0.1% (प्रतिशत) भाग ही लक्षित कीटों को नष्ट करने-के लिए पर्याप्त होता है। शेष मात्रा वायु, भूमि एवं जल को प्रदूषित करती है। इस तरह हमारे यहां इन दवाओं का इस्तेमाल गलत तरीके से होता है। ऐसे ही कुछ मुख्य कारण इस प्रकार है :

* कीटनाशियों का विवेकहीन प्रयोग।
* कीटनाशियों का विषम प्रयोग।
* प्रयोगकर्ताओं में शिक्षा की कमी।
* कृषि एवं स्वास्थ्य संबंधी शिक्षा के प्रसार की कमी।
* कीटनाशी दवाओं के साथ उनकी जानकारी देने वाले उचित साहित्य की कमी।

* अधिक उत्पादन की प्रतिस्पर्धा।
* अधिक लाभ की इच्छा।
* जैविक कीटनाशियों का प्रचार-प्रसार कम होना।
* प्रतिबंधित कीटनाशियों का उपयोग।
* विकसित देशों की नकारात्मक भूमिका।

उपरोक्त कारणों से हमारी खाद्य शृंखला पर कीटनाशियों का बहुत हानिकारक प्रभाव पड़ता है। कीटनाशियों में विशेषकर आर्गेनोक्लोरीन का एकत्रित होना बहुत हानिकारक है। प्रायः दूध, फल, सब्जी, अनाज, दालों, दुग्ध उत्पाद, मांस, मछली, अंडे आदि में इन रसायनों का अंश जमा होकर हमारे शरीर में प्रवेश कर जाता है। एक औसत भारतीय के शरीर के ऊतकों में डी. डी. टी. तथा अन्य रसायनों के जमा होने पर स्तर विश्व में सबसे अधिक है। भारतीय खाद्य पदार्थों में डी. डी. टी. का स्तर नीचे की सारणी में दर्शाया गया है :

भारतीय खाद्य पदार्थों में डी. डी. टी. का स्तर

खाद्य पदार्थ	डी. डी. टी. स्तर (पी.पी.एम.)
दूध	सूक्ष्म से 0.20
अंडा	सूक्ष्म से 0.24
मक्खन	1.1—8.0
गेहूँ	4.0—6.0
मूँगफली का तेल	5.0—7.1
दालें	5.0—35.0
परवल	9.0—16.0
नारियल का तेल	9.3—10.6
सरसों का तेल	10—12.1

मिट्टी में संचित ये रसायन अवशोषण की प्रक्रिया द्वारा जल में मिल जाते है तथा जल में इनकी सांद्रता निरंतर बढ़ती जाती है। डी. डी. टी., गैमेक्सीन, एल्ड्रिन आदि कुछ ऐसे रसायन हैं जो धीरे-धीरे जीव-जंतुओं के शरीर में एकत्रित होकर विभिन्न बीमारियां उत्पन्न करते हैं। पेयजल में विभिन्न कीटनाशी रसायनों की अधिकतम अनुमेय सांद्रता नीचे की सारणी में दर्शाई गई है :

पेयजल में विभिन्न कीटनाशी रसायनों की अधिकतम अनुमेय सांद्रता

कीटनाशी	अधिकतम अनुमेय सांद्रता (नैनो प्र. ली.)
एल्ड्रिन	17
क्लोरडेन	3
डाइ एल्ड्रिन	17
हेप्टाक्लोर	18
डी. डी. टी.	42
लिन्डेन	56
आर्गेनोफास्फेट	100
कार्बोनेट	100
2 पी-डी, 2, 4-5 टी तथा 2, 4-5-टी. पी.	100

कृषि में प्रयुक्त किए जाने वाले विभिन्न कीटनाशी, शाकनाशी एवं कवकनाशी रसायनों का भूमि में विघटन होता रहता है और इनसे तरह-तरह के कम विषैले या विष रहित अवशेष पदार्थ बनते रहते है जो मृदा में पाए जाने वाले सूक्ष्म जीवों की क्रियाशीलता को कम करते है एवं मृदा की जैव मात्रा को असंतुलित करते हैं।

मृदा में आर्गेनोक्लोरीन वर्ग के कीटनाशियों का स्थायित्व बहुत अधिक रहता है।

खाद्य पदार्थों में कीटनाशी रसायनों की विषाक्तता जानने हेतु हमारे देश के विभिन्न बाजारों में उपलब्ध अनाजों दालों, सब्जियों, दूध, मांस आदि के नमूनों का परीक्षण करने पर मालूम हुआ है कि इनमें विषाक्तता का स्तर बहुत अधिक है जो कि चिंतनीय है। इसे नीचे की सारणी में दर्शाया गया है :

सारणी
जीवननाशी द्वारा विषाक्त खाद्य पदार्थ

खाद्यान्न	परीक्षित नमूने	विषाक्त नमूने	पहचाने गए जीवनाशी
गेहूँ	659	190	डी.डी.टी., बी.एच.सी. तथा मैलाथियोन
गेहूँ का आटा	2	2	डी.डी.टी.
अन्य अनाज	77	56	डी.डी.टी., बी.एच.सी.
चावल	4	4	डी.डी.टी.
दालें	32	16	डी.डी.टी., बी.एच.सी.
तिलहन तथा तेल	33	29	डी.डी.टी.
शाक सब्जियां	727	514	डी.डी.टी., बी.एच.सी., एल्ड्रिन तथा हेप्टॉक्लोर
अंगूर	44	36	मैलाथियोन एवं पैराथियोन
दूध	15	11	डी.डी.टी. तथा एल्ड्रिन
मक्खन	2	2	डी.डी.टी.
अंडा	21	14	डी.डी.टी., बी.एच.सी.
मांस	81	66	डी.डी.टी. एवं एल्ड्रिन

कीटनाशी रसायन एवं मानव स्वास्थ्य

(क) **रोग-प्रतिरोध क्षमता की कमी** — अधिकतर कीटनाशी मानव शरीर पर हानिकारक प्रभाव डालते है तथा शरीर की रोगों से लड़ने की क्षमता को कम करते है। सभी प्रकार के कीटनाशी रोग-प्रतिरोध क्षमता का ह्रास इस प्रकारसे करते हैं कि दोनों प्रकार की द्रवीय तथा कोशिकीय रोग प्रतिरोध क्षमता 25-40% तक हो जाती है। कुछ कीटनाशी जैसे इंडोसल्फान, साइपरमैथ्रिन, मोनोक्रोटो फॉस, लिंडेन कार्बोफ्यूरान, मैलाथियोन, व्यूटाक्लोर, क्विनाल फॉस, आइसोप्रोट्यूरॉन, कैप्टाफॉल, एल्फामैथ्रिन तथा डी. ट्रासएलैथ्रिन आदि रोग-प्रतिरोध क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव डालते पाए गए है। कीटनाशी एवं खादों के साथ-साथ भारी धातुएं जैसे-पारा, सीसा, ताँबा, कैडमियम, आर्सेनिक आदि के अवशेष भी शरीर में खाद्यान्नों के साथ जाते है। ये धातुएं भी शरीर की रोग-प्रतिरोध क्षमता का ह्रास करती हैं जिससे शरीर में विभिन्न प्रकार के रोगों का संक्रमण होने लगता है। एक ही बीमारी बार-बार होती है तथा दवाओं का असर कम होने लगता है।

(ख) **स्वरोग प्रतिरोधी क्षमता उत्पन्न होना** — कीटनाशियों के अवशेष शरीर के कुछ प्रोटीनों के साथ मिलकर शरीर में प्रति पिंड (ऐंटीबॉडी) उत्पन्न करते हैं जो शरीर की कोशिकाओं/प्रोटीन के ही विरुद्ध कार्य करते है। इससे शरीर की कोशिकाओं ऊतकों का क्षय होने लगता है। लिंडेन कीटनाशी से इस प्रकार का प्रभाव जानवरों में देखा गया है। कई बार जब ये ऐंटीबॉडी अधिकता से बनते है तो कीटनाशी के अवशेषों के साथ मिलकर संयुग्म बनाते है जो गुर्दे को खराब करते हैं तथा जोड़ों में क्षतिकर दर्द उत्पन्न करते हैं।

है तथा इनका कोई हानिकारक प्रभाव भी नहीं पड़ता है। इनका उत्पादन व उपयोग बढ़ाने पर जोर दिया जाना चाहिए। कीटनाशी दवाओं के दुष्प्रभावों से बचाव के लिए वनस्पति जन्य आयुर्वेदिक दवाओं पर गहन शोध की आवश्यकता है ताकि वैज्ञानिक रूप से सिद्ध आयुर्वेद मूल की दवाओं का उपयोग कीटनाशियों के दुष्प्रभाव से बचने में किया जा सके।

संरक्षण जुताई — आधुनिक खेती के अंतर्गत बड़े यंत्रों जैसे-ट्रैक्टर, कल्टीवेटर एवं हैरो आदि से लगातार जुताई करने पर मिट्टी के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुण प्रभावित होते हैं। जैसे मिट्टी के कण छोटे-छोटे कणों में टूट जाते हैं जिनका वायु एवं जल द्वारा क्षरण अधिक होता है तथा साथ ही पोषक तत्वों का भी ह्रास होता है। मिट्टी की संरचना बिगड़ जाती है जो हमारी फसलोत्पाद को प्रभावित करती है। ऐसी स्थिति से छुटकारा पाने के लिए पौधे उगाने के लिए मिट्टी की जुताई न कर जीरो टिल ड्रिल, स्ट्रिप टिल ड्रिल से बुवाई करके तथा खरपतवार एवं कीड़ों के लिए रसायनों का प्रयोग करके पर्यावरणीय दृष्टिकोण से शुद्ध एवं सतत गतिशील उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। सीडड्रिल से धान-धोने से पडलिंग की आवश्यकता नहीं होती तथा मिट्टी की बेहतर अवस्था तथा पानी भरे हुए धान के खेत की तुलना में कम गैस उत्पन्न होती है। संरक्षण जुताई में मिट्टी की सतह में न्यूनतम परिवर्तन किया जाता है।

भूमि एवं जल का विवेकपूर्ण उपयोग न होने से विभिन्न प्रकार की पर्यावरणीय समस्याएं

मनुष्य अपने जीवन यापन हेतु भूमि एवं जल के विवेक-सम्मत उपयोग न करने के कारण संपूर्ण पर्यावरण में कई प्रकार

की समस्याएं उत्पन्न करता जा रहा है। जिससे हमारे जल व भूमि के जीवनदायी स्रोत भी क्षरित हो रहे हैं। आज हमारे वर्षा आधारित शुष्क क्षेत्र व अधिक जनसंख्या वाले क्षेत्र भयावह स्थिति में है। वन क्षेत्र में कमी, मृदा क्षरण में अधिकता, ज़ल स्तर में कमी, जल गुणवत्ता में ह्रास, इन सभी कारकों ने पिछले कुछ दशकों में सूखे की स्थिति व आवृत्ति को बढ़ा दिया है। सिंचाई जल के गलत उपयोग से जल ग्रहण क्षेत्र में जल जमाव एवं जल निकास की समस्याएं, अत्यधिक बाढ़, लवणीयता एवं क्षारीयता के दुष्परिणाम भी सामने आते जा रहे है।

जल संग्रहण तथा संरक्षण — जल संरक्षण से मिट्टी के कटाव को रोकना तथा जल निकासी कम करना, भूजल स्तर में वृद्धि करना, बाँध बनाकर जल संग्रहण कर सिंचाई करना संभव है। इनसे हरियाली में भी वृद्धि होती है, जिससे पर्यावरण में सुधार होता है। पानी की कमी वाले क्षेत्रों में ड्रिप सिंचाई प्रणाली का प्रयोग कर जल का संरक्षण किया जा सकता है। किसानों द्वारा बंध, गड्ढे, नालियां, क्यारियां बना कर मिट्टी के कटाव को रोका जा सकता है। जल संग्रहण एवं संरक्षण से पैदावार को बढ़ाया जा सकता है। कंटूर तथा सेंडी (बंड) से पानी के बहाव को रोका जा सकता है। ऐसी स्थिति में बड़े प्रभावित क्षेत्रों में जल संग्रहण के लिए सामुदायिक प्रतिभागिता बहुत आवश्यक है। मिट्टी की ऊपरी सतह पर सुरक्षात्मक परत के रूप में जैविक अथवा अजैविक पदार्थ फैला दिए जाते है। घासपात तथा आच्छादित फसलों से मिट्टी, पानी तथा पोषक तत्वों के संरक्षण में सहायता मिलती है।

जलमग्न क्षेत्रों से भू-जल निकासी — लगभग 51.4 लाख हेक्टेयर क्षेत्र में जल भराव होने का अनुमान है। सक्रिय सामुदायिक

सहभागिता एवं सरकारी विभागों के सहयोग से अतिरिक्त जल की उपयुक्त निकासी करके भूमि को खेती के लिए सुधारा जा सकता है। जहाँ पानी अस्थायी तौर पर इकट्ठा हो जाता है वहाँ ऊँची क्यारियां बनाकर वायु का प्रवाह सुनिश्चित किया जा सकता है और अच्छी फसल ली जा सकती है।

पर्यावरण एवं विकास के मुद्दे परस्पर संबंधित हैं — यह सर्वविदित है कि पर्यावरण और विकास एक-दूसरे से सह संबंधित है और कुछ प्रकार के आर्थिक विकास का पर्यावरण व प्राथमिक उत्पादकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। हम लोग प्रायः इन समस्याओं पर ध्यान नहीं देते है क्योंकि इनसे होने वाले तात्कालिक आर्थिक फायदे हमको अंधकार की तरफ ले जाते हैं। पर्यावरण ह्रास के कारण गरीबी बढ़ी है, एवं जीवन यापन के स्तर में गिरावट आई है। 80 प्रतिशत ग्रामीण अपने खाद्यान्न, ईंधन, व चारे की पूर्ति स्थानीय पर्यावरण से ही करते है। भूमि-जल संसाधनों के संवर्धन व संरक्षण हेतु समुचित प्रबंधन के अभाव में पर्यावरण क्षरण का मुख्य कारण नाजुक पारिस्थितिकी तंत्र पर पड़ता जैव दबाव है। एक तरफ बढ़ती हुई जनसंख्या व गरीबी तथा दूसरी तरफ संपन्न लोगों की बढ़ती हुई मांग के दबाव में पारिस्थितिकीय तंत्र पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है। प्राकृतिक खेती इस उद्देश्य के लिए एक उपयुक्त पारिस्थितिकीय तंत्र है जिसके आधार पर प्राकृतिक नियमों को ध्यान में रखते हुए क्षेत्र के नियोजन व विकास प्रक्रिया की अवस्था का पुनर्निर्धारण किया जाता है।

अध्याय - 4

प्राकृतिक खेती : महत्व

प्राकृतिक खेती के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि अधिकतम फसलोत्पादन प्राप्त करने की आधुनिक कृषि विधियों के कारण कृषि पर पड़ने वाले हानिकारक प्रभावों पर ध्यान दिया जाए। संकर बीजों का प्रयोग, अंधाधुंध रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशियों एवं खरपतवारनाशी रसायनों का उपयोग, अत्यधिक सिंचाई, सघन कृषि पद्धति आदि की उपलब्धि एवं खपत में निरंतर वृद्धि के कारण मृदा, जल, वायु एवं फसलों की पौष्टिकता पर अनेक प्रकार के हानिकारक प्रभावों को दूर करना होगा।

आधुनिक कृषि प्रणालियों के बढ़ते हुए प्रभाव से जो सबसे बड़ी समस्या आज हमारे फसलोत्पादन में आ रही है उसका मूल कारण मृदा एवं जल का प्रदूषण है। इसका सबसे महत्वपूर्ण पहलू है मृदा को स्वस्थ एवं उर्वरक बनाए रखना जो मुख्य रूप से कार्बनिक पदार्थों द्वारा ही संभव है। चूंकि किसान अधिक उत्पादन प्राप्त करने के साथ-साथ रोजगार, मृदा की स्वस्थता, प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा एवं उनका प्रबंधन तथा पर्यावरण की सुरक्षा में भी रुचि रखता है इसलिए कृषि के दूसरे स्वरूपों जैसे प्राकृतिक

खेती अथवा कार्बनिक खेती का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। इसलिए इन सभी उद्देश्यों को प्राकृतिक खेती अथवा कार्बनिक खेती द्वारा ही प्राप्त करना संभव होगा।

कार्बनिक खेती, खेती की वह पद्धति है, जिसमें कार्बनिक पदार्थों जैसे-गोबर की खाद, कंपोस्ट एवं वाहित मल एवं कार्बनिक अपशिष्टों की सहायता से खेती की जाती है। खेती की यह पद्धति अधिक उपज प्राप्त करने के लिए मूलतः जैविक प्रक्रियाओं पर आधारित है। इसका मुख्य उद्देश्य मृदा से इस प्रकार फसल उगाना है कि मृदा पर्यावरणीय दृष्टिकोण से स्वस्थ एवं उर्वर बनी रहे।

प्राकृतिक खेती का तुलनात्मक महत्व

* उर्वरकों जैसे-नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटाश एवं द्वितीयक एवं सूक्ष्म उर्वरक, जीवनाशी, कीटनाशी एवं शाकनाशी रसायनों का प्रयोग न करने के कारण मृदा, जल, वायु एवं फसल के प्रदूषित होने का खतरा कम रहता है।

* प्राकृतिक खेती अपनाने से मृदा के भौतिक गुण जैसे-मृदा वर्ग कण, मृदा विन्यास, मृदा संरचना, मृदा कण घनत्व, मृदा रंध्रावकाश, मृदा गाढापन एवं मृदा रंग आदि में फसलों उत्पादन के दृष्टिकोण से काफी सुधार होता है जो कि आधुनिक कृषि से बिल्कुल संभव नहीं है।

* प्राकृतिक खेती अपनाने से मिट्टी की जल धारण क्षमता, मिट्टी की धनायन विनिमय क्षमता, मृदा पी.एच., एवं मृदा के अन्य विकारों जैसे-मृदा की अम्लता एवं क्षारीयता में काफी सुधार होता है।

* प्राकृतिक खेती करने से मृदा के अंदर पाए जाने वाले असंख्य लाभदायक सूक्ष्म जीवों की क्रियाशीलता एवं संख्या निरंतर

बढ़ती रहती है। परंतु आधुनिक कृषि पद्धति द्वारा इनकी संख्या एवं क्रियाशीलता निरंतर समाप्त होती जा रही है।

* प्राकृतिक खेती करने वाले कृषक रासायनिक जीवनाशी हार्मोन आदि का प्रयोग नहीं करते। अतः इन सबके अवशोषण प्रभाव का खतरा भी कम रहता है।

* प्राकृतिक खेती में आधुनिक खेती की तुलना में कम ऊर्जा का प्रयोग करने की आवश्यकता होती है।

* प्राकृतिक खेती से उत्पन्न किए गए उत्पाद का मूल्य बाजारों में अधिक मिलता है क्योंकि वह प्रदूषण रहित रहता है।

* प्राकृतिक खेती में मशीनों के कम प्रयोग की आवश्यकता होती है जिससे फसल के खराब होने की संभावना कम रहती है।

* इससे कृषि उत्पादन में लागत कम लगती है।

* प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतम उपयोग होता है।

प्राकृतिक खेती के कारक

कार्बनिक खादों के अंतर्गत मुख्य रूप से पशुओं का मल मूत्र, फसलों एवं जीवों के अवशेष, नगरों से निकले अपशिष्ट पदार्थ, कंपोस्ट कारखानों के अपशिष्ट, खलिया एवं हरी खादें है। इस पद्धति में इनका प्रयोग करके पर्यावरण की दशा की बेहतर बनाए रखा जा सकता है। वास्तव में कृषि का आधार कार्बनिक पदार्थ ही हैं। अतः इनको जलाकर व खुला छोड़कर बर्बाद नहीं करना चाहिए। इनको भली भाँति सड़ाकर खेतों में इनका उपयोग करना चाहिए। कार्बनिक खादों के प्रयोग से मृदा में जीवांश पदार्थ की मात्रा में वृद्धि होती है जिससे मृदा के पोषक तत्व एवं मृदा की जल धारण क्षमता में वृद्धि होती है। भू-क्षरण एवं वाष्पोत्सर्जन की दर को भी कार्बनिक खादों के प्रयोग से कम किया जा सकता है।

प्रारंभ में बहुधा किसान फसलों की कटाई के बाद खेतों में गोबर की खाद का प्रयोग करते थे। परंतु खेती में नए-नए कृषि यंत्रों के प्रवेश एवं चारागाह क्षेत्रों में हो रही कमी से पशुओं की संख्या में निरंतर गिरावट होती जा रही है। इस संबंध में तमिल की एक कहावत प्रचलित है :

"चारे बिना पशु नही, पशु बिना खाद नहीं, खाद बिना फसल नहीं"

फसलों पर कार्बनिक खाद का प्रभाव

गोबर की निरंतर कमी को देखते हुए ऐसी तकनीकों की खोज की गई है जिनमें कम से कम गोबर का प्रयोग करके अधिक से अधिक कंपोस्ट तैयार किया जा सकता है। इनमें इंदौर पद्धति, बंगलौर पद्धति, मायादास पद्धति, फोरपिट पद्धति, वायोडंग पद्धति एवं नाडेप पद्धति प्रमुख है। इनमें जैविक अवशेष का शीघ्रता से एवं सही ढंग से अपघटन सूक्ष्म जीवों पर निर्भर करता है। अतः अच्छी जाति के सूक्ष्म जीवों की खोज तथा उनको सक्षम बनाने का काम जैव-प्रौद्योगिकी का है, जिसके अंतर्गत वर्मीकल्चर बॉयोटेक्नोलॉजी द्वारा वर्मी कंपोस्ट तैयार करना इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है।

गोबर की खाद

गोबर की खाद मुख्यतः फार्म पर रहने वाले पशुओं के गोबर मूत्र, बिछावन में प्रयुक्त होने वाले वनस्पति-पदार्थ एवं पशुओं के चारे के अवशेषों को सड़ा कर प्राप्त की जाती है। हमारे देश में इस खाद को तैयार करने में अधिक गोबर काम आता है इसलिए इसे प्रायः गोबर की खाद नाम दिया गया है।

उद्देश्य : गोबर से किसी भी पौधे की वृद्धि एवं विकास के लिए आवश्यक सभी पोषक तत्वों से युक्त जैविक खाद बनाने हेतु जीवाणु विधि का प्रयोग किया जाता है।

उपयुक्त स्थान : छायादार पेड़ के नीचे या खेत के पास ऊंचे स्थान पर घूर लगाना चाहिए।

कार्य की विधि

* किसान अपने पास उपलब्ध गोबर को पानी में अच्छी तरह मिला लें।

* इसमें फसलों के अवशेष या पशुओं का बिछावन मिलाते है।

* इस ढेर को गोबर मिट्टी से लीपकर पूरी तरह बंद कर दें

* तापमान बढ़ने की स्थिति में क्रिया होने दें।

* लगभग 20 दिन बाद जीवाणु कल्चर किट मिलते है जिससे विघटन की क्रिया बढ़ जाती है।

* एक महीने बाद खाद पूर्णरूपेण तैयार हो जाती है। इसे छानकर बोरे में भर लेते हैं। बचे हुए बड़े डंठलों को दूसरे चक्र में घूरे के साथ मिलाकर डालें।

औसतन अच्छी तरह विघटित फार्म खाद 'गोबर की खाद' में 0.5% नाइट्रोजन, 0.2% फास्फोरस और 0.5% पोटाश पाया जाता है। इसके अतिरिक्त द्वितीय पोषक तत्व कैल्शियम, मैग्नीशियम, सल्फर एवं सभी सूक्ष्म पोषक तत्व सूक्ष्म मात्रा में पाए जाते हैं। इसके विश्लेषण के आधार 25 टन प्रति हेक्टेयर गोबर की खाद का फैलाव करने पर 112 कि.ग्रा. नाइट्रोजन, 561 कि.ग्रा. फास्फोरस और 112 कि.ग्रा. पोटाश प्राप्त होता है। ये वस्तुएं प्रयोग वर्ष में फसल को उपलब्ध नहीं होती। नाइट्रोजन की क्रिया बहुत धीमी होती है और सामान्यतः पहले वर्ष में 30% से कम नाइट्रोजन ही उपलब्ध होती है। फॉस्फेट की 60-70% मात्रा और पोटाश की लगभग 75% मात्रा निकटतम फसल को उपलब्ध होती है। बाकी के पोषक तत्व आगामी फसलों को उपलब्ध होते हैं। आगामी फसलों को पोषक तत्वों की ऐसी उपलब्धता को अवशेष प्रभाव कहते हैं।

गोबर की खाद का महत्व

* गोबर की खाद का खेतों में प्रयोग करने पर यह मिट्टी के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों में सुधार करती है।

* गोबर की खाद में पाए जाने वाले पोषक तत्व धीरे-धीरे फसलों को प्राप्त होते हैं।

* अच्छी सड़ी हुई गोबर की खाद को बिना किसी नुकसान के छोटे-छोटे पौधों को दिया जा सकता है।

* यह मृदा में विनिमेय कैल्शियम की मात्रा बढ़ाती है और इस प्रकार मृदा के भौतिक गुणों को सुधारने में सहायक होती है।

* जीवांश पदार्थ के विच्छेदन से मिलने वाला कोलाइडी ह्यूमस रेतीली मृदाओं की जल-धारण क्षमता को बढ़ाता है तथा चिकनी मृदाओं को स्पंजी बनाता है।

* गोबर की खाद में पानी के अवशोषित करने की क्षमता अधिक होती है। इसलिए यह पानी को धीरे-धीरे छोड़ती है जिससे यह काफी समय तक पौधों के काम आती रहती है।

* गोबर की खाद फसलों के लिए पूर्ण आहार का काम करती है।

कंपोस्ट बनाने की नई तकनीकें

कंपोस्ट बनाने की तकनीक — कार्बनिक पदार्थ जैसे वनस्पति अथवा पेड़-पौधों के अपशिष्ट पदार्थ, जानवरों के मलमूत्र इत्यादि का हवा पानी तथा मिट्टी में रहने वाले सूक्ष्म जीवाणुओं की मदद से हवा की अनुपस्थिति अथवा उपस्थिति में विघटन होता है। इस विघटन की क्रिया में कार्बनिक, वायु एवं ऊर्जा का निर्माण होता है तथा जटिल रचना वाले कार्बनिक पदार्थ सरल रचना वाले अकार्बनिक पदार्थ एवं पौधों के उपलब्ध अन्य द्रव्यों में बदल जाते हैं। सूक्ष्म जीवाणुओं द्वारा विघटन की इस क्रिया को कंपोस्टिंग कहते है। यदि यह विघटन हवा की उपस्थिति में होता है, जैसे जमीन की ऊपरी सतह पर। टैंक में अथवा ढेर पद्धति में तो इसे वायवीय (एरोबिक) विघटन कहते है। किंतु यह विघटन यदि हवा की अनुपस्थिति में होता है—जैसे गहरे गड्ढों में अथवा गोबर गैस

व गोबर का थर देकर सील कर दिया जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक भाग का कचरा पलटा जाता है। इस तरह 3 से 4 बार, 15 के अंतर से पलटने की क्रिया करने पर बहुत अच्छा कंपोस्ट बनता है।

इंदौर पद्धति में 90 से 120 दिन में 1 से 5 टन खाद तैयार की जा सकती है। यह खाद काले रंग की मिट्टी जैसी गंध वाली होती है।

बंगलौर पद्धति : कंपोस्ट बनाने की इस विधि को डॉ. सी. एन. आचार्य ने बंगलौर में विकसित किया था। इस विधि में कंपोस्ट की पलटाई की आवश्यकता नहीं पड़ती।

कंपोस्ट बनाने के लिए गड्ढों का माप आवश्यकतानुसार 6 x 2 x 1 मी. से 12 x 3 x 1.25 मी. तक रखा जाता है। इस विधि में पहले 22.5 सेमी. कूड़ा करकट की तह लगाई जाती है। इसके ऊपर 7.5 सेमी. की विष्ठा की खाद की तह बिछाई जाती है और फिर सबसे ऊपर 2.5 सेमी. मिट्टी की परत लगाई जाती है। इसी क्रम से परतें बनाते हुए गड्ढे को भूमि से 60 सेमी. ऊँचाई तक भर देते हैं और उसके ऊपर मिट्टी डालकर ढक देते हैं जिससे गड्ढों पर मक्खियाँ न बैठे तथा दूर्गंध भी न फैलाने पाए। इस प्रकार चार मास में यह खाद तैयार हो जाती है।

नोट : कंपोस्ट को शीघ्र सड़ाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें प्रयुक्त कार्बनिक पदार्थ मुलायम हो तथा उसमें नमी की कमी न हो, इसलिए कठोर कूड़े-करकट व फसल के अवशेषों को गाड़ी के रास्ते पर डाल देना चाहिए और जब कुचल-कुचल कर पदार्थ मुलायम हो जाए तब गड्ढों में डालना चाहिए। गड्ढों में पर्याप्त नमी बनाए रखने के लिए पानी छिड़कते रहना चाहिए।

मायादास पद्धति : उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व कृषि निदेशक डॉ. मायादास ने यह पद्धति प्रचलित की थी। इस विधि में भी कंपोस्ट खाद को पलटने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस विधि में गड्ढा ढालू रखा जाता है और ढाल की ओर एक छिद्र द्वारा

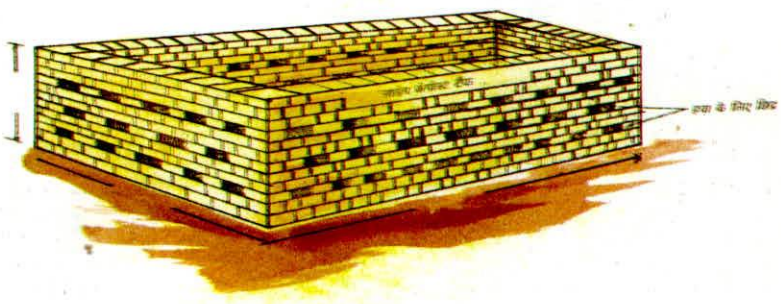

नाडेप कंपोस्ट टैंक

उसे दूसरे गड्ढे से मिला दिया जाता है। छिद्र से आवश्यकतानुसार नालियाँ निकाली जाती हैं और उन्हें खपरैल से ढक दिया जाता है। गड्ढा साधारण रीति से भरा जाता है। गड्ढे की लंबाई चौड़ाई आवश्यकतानुसार रखी जाती है। इस विधि में कूड़ा करकट बड़े गड्ढों में भरा जाता है एवं छोटा गड्ढा खाली रखा जाता है। छोटे गड्ढे में से होकर वायु बड़े गड्ढों में जाया करती है। इस विधि से 4-5 महीने में कंपोस्ट तैयार हो जाता है।

4. पानी।
5. वानस्पतिक पदार्थ—पत्ती, डंठल, छिलके, टहनियाँ, जड़ें आदि 1400—1500 किलो ग्राम।

(ब) ढाँचा बनाने की विधि :

1. 6 इंच गहरी नाली खोदें और 9 इंच मोटी दीवारों वाला 12 फुट लंबा 5 फुट चौड़ा टैंक बनाएं।
2. ईंटों के प्रत्येक दो रद्दों की चुनाई के बाद तीसरे रद्दे की चुनाई के समय प्रत्येक ईंट के बाद सात इंच का छेद छोड़कर चुनाई करें।
3. छेद को इस प्रकार रखें कि पहली लाइन के दो छेदों के मध्य में तीसरी लाइन के छेद सामने आएं।
4. उपरोक्त के अनुसार तीसरे छठें एवं नवें रद्दे में छेद बनाएं।
5. सबसे ऊपर के रद्दों को सीमेंट की सहायता से जोड़ें ताकि ढाँचा मजबूत बने।
6. तैयार ढाँचे की अंदर की दीवारों तथा फर्श को गोबर और मिट्टी के मिश्रण से लीप लें।
7. भली प्रकार सूखने पर की ढाँचे को कंपोस्ट बनाने में प्रयुक्त करते है।

(स) ढाँचा भरने की विधि :

प्रथम भराई — ढाँचा भरने के पूर्व अंदर की दीवारों एवं फर्श को पानी एवं गोबर के घोल से गीला कर लें, फिर 4 से 6 इंच डंठल की परत बनाएं।

पहली परत — 4-6 इंच की ऊँचाई तक सूखा तथा हरा वनस्पतिक पदार्थ (60 : 40) भर दें। 100 लीटर पानी में 4 किलो गोबर घोलें और वानस्पतिक पदार्थ को घोल से भिगोएं।

यदि गोबर गैस की स्लरी हो तो 10 किलो स्लरी को पानी में घोलें।

दूसरी परत — वानस्पतिक पदार्थ को मिट्टी की 2 इंच मोटी परत से ढक दें तथा थोड़ा सा पानी छिड़क दें। इसके बाद ऊपर बताई गई विधि के अनुसार लगातार परतें बनाकर ढाँचे की अपनी ऊँचाई से 1.5 फुट ऊँचाई तक 5-6 परतों से भर दें। ऊपर से 2 इंच मोटी मिट्टी और गोबर के मिश्रण के लेप से परत बनाकर बंद कर दें।

द्वितीय भराई — 15-20 दिन के बाद खाद सामग्री सिकुड़ कर ढाँचे के मुँह से 5-6 इंच नीचे बैठ जाएगी। अब पुनः पहली भराई की तरह वानस्पतिक पदार्थ, गोबर के घोल और मिट्टी से ढाँचे को 15 फुट ऊँचा भर दें तथा गोबर और मिट्टी से लीपकर सील कर दें।

कंपोस्ट तैयार होने की अवधि तथा मात्रा : प्रथम भराई की तारीख से 90 से 120 दिन बाद कंपोस्ट बनकर तैयार हो जाता है। इस प्रकार के ढाँचे से एक बार से लगभग 3 टन कंपोस्ट (लगभग 3 बैलगाड़ी) तैयार हो जाता है। तैयार खाद भूरे रंग की दुर्गंध रहित, सोंधी महक युक्त होती है।

सावधानियाँ :

1. पूरे ढाँचे को 48 घंटे के भीतर ही भर कर बंद कर दें।
2. लगातार नमी बनाए रखें तथा जाली की सहायता से आवश्यकतानुसार पानी का छिड़काव करें।
3. यदि कड़ी धूप हो तो अस्थायी छप्पर बनाकर या घास फूस से छाया कर दें।
4. ढाँचे के आखिरी रद्दे को सीमेंट की सहायता से मजबूत बनाएँ।

खाद प्रयोग करने की मात्रा एवं विधि : 3 से 5 टन प्रति एकड़ की दर से खाद को बुवाई के 15 दिन पूर्व खेत में फैला दें और जुताई करके मिट्टी में मिला दें।

वर्मीकंपोस्ट बनाना

क्या है?

बेकार कार्बनिक प़दार्थों जैसे फसलों के अवशेष, पुआल, सूखी घास, सब्जियों के छिल्के आदि से केंचुओं की सहायता से खाद बनाना वर्मीकंपोस्टिंग कहते है। वर्मीकल्चर वस्तुतः केंचुओं को संवर्धित करने एवं कूड़ा करकट, कचरे एवं अवशिष्ट पदार्थों को तीव्रता से विघटित करने की प्रक्रिया है।

वर्मीकंपोस्ट में नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटाश के अतिरिक्त पौधों की वृद्धि एवं विकास में सहायक अनेक लाभदायक सूक्ष्म तत्व एवं जीवाणु, हार्मोन और एन्जाइम भी पाए जाते हैं। इसमें ह्यूमिक एसिड भी होता है जो भूमि की लवणता को कम करता है।

क्यों?

1. गोबर की खाद एवं कंपोस्ट तैयार करने की अन्य पद्धति की तुलना में इसमें सवा गुना अधिक तत्व पाए जाते हैं।
2. इसमें अनेक लाभदायक सूक्ष्म तत्व, जीवाणु, हार्मोन और एंजाइम पाए जाते हैं जो पौधों के संपूर्ण विकास में सहायक होते हैं।
3. इसमें पाया जाने वाला ह्यूमिक एसिड भूमि के पी.एच. मान को संतुलित रखता है।
4. इस विधि द्वारा तैयार खाद में दीमक का प्रकोप नहीं होता है।

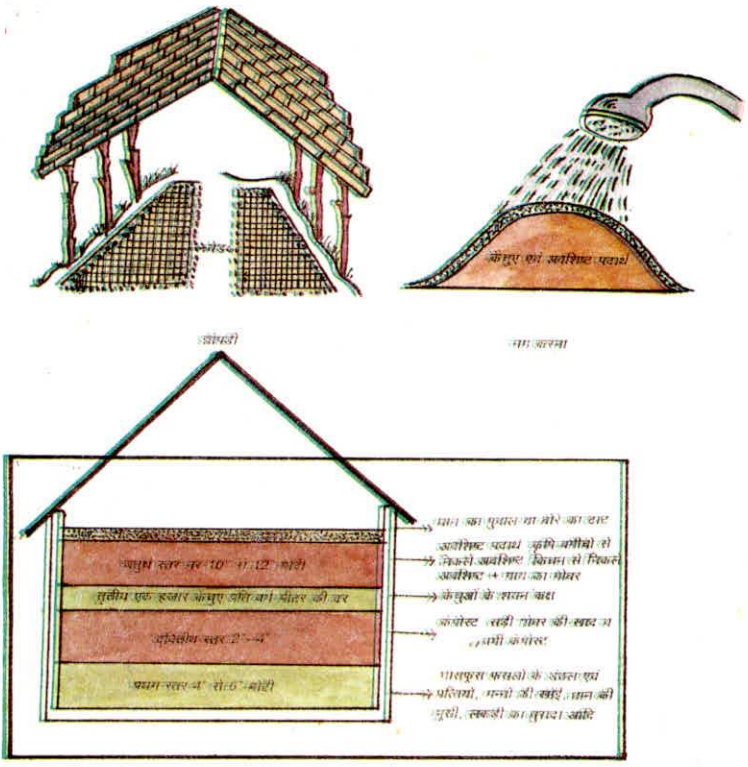

वर्मीकंपोस्ट का स्तर

5. वर्मीकंपोस्ट के प्रयोग से फसल स्वादिष्ठ, चमकदार और शुद्ध प्राप्त होती है जिसके कारण उसका बाजार मूल्य अधिक प्राप्त होता है।
6. पर्यावरणीय दृष्टिकोण से जल, भूमि और हवा को स्वस्थ बनाता है।

7. केंचुए मृदा में पाई जाने वाली भारी धातुओं की विषाक्तता को कम कर देते हैं।
8. वानस्पतिक पदार्थों को 40-50 दिन में खाद में बदल देता है।

वर्मीकंपोस्ट की पोषण क्षमता :

जीवांश कार्बन — 20-25 प्रतिशत
नाइट्रोजन — 1.2-1.6 प्रतिशत
फास्फोरस — 1.8-2.0 प्रतिशत
पोटाश — 0.5-1.0 प्रतिशत

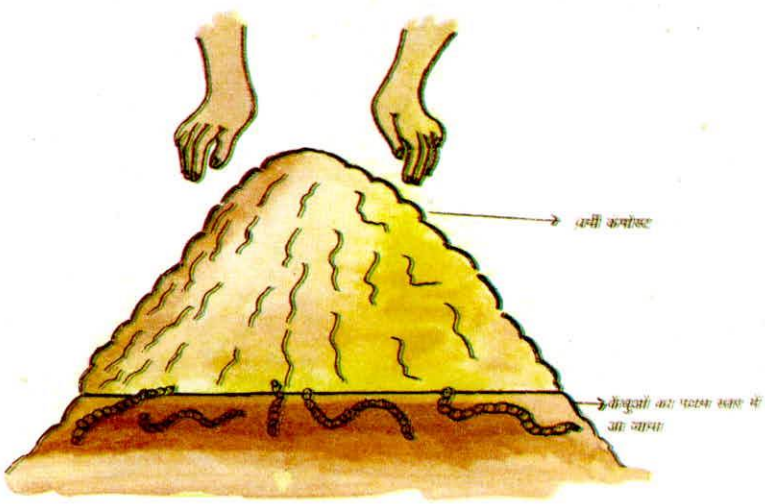

वर्मीकंपोस्ट को अलग करना

(अ) वर्मीकंपोस्ट गड्ढे बनाने का स्थान :

1. स्थान छायादार हो।
2. वहां जल भराव और गड्ढे में पानी रिसकर आने की समस्या न हो।

(ब) गड्ढे का आकार एवं माप :

लंबाई — 3 मीटर

चौड़ाई — 1 मीटर

गहराई — 1 मीटर

आवश्यकतानुसार गड्ढे की लंबाई, चौड़ाई बढ़ाई जा सकती है। परंतु गहराई 1 मीटर से अधिक नहीं बनाएं। उपरोक्त आकार

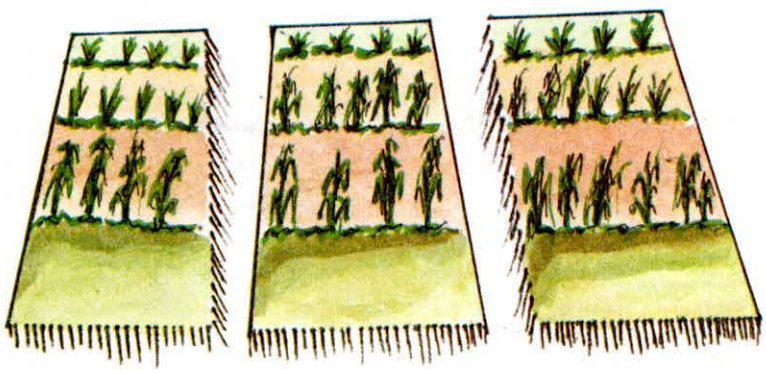

वर्मीकंपोस्ट का खेतों में प्रयोग

की लकड़ी की पेटी तथा भूमि के ऊपर बनी पक्की रचनाओं को भी वर्मीकंपोस्ट बनाने में प्रयुक्त किया जा सकता है।

(स) गड्ढा भरने की प्रक्रिया :

गड्ढा भराई निम्नानुसार क्रम से करें —

1. सबसे पहली तह में 3 से 5 सेमी. मोटी ईंट या पत्थर की मिट्टी बिछाएं।
2. लगभग 3 से 5 सेमी. मोटी मोरंग या बालू की परत बनाएं।
3. बालू, मोरंग परत के ऊपर 10-15 सेमी. मोटी दोमट मिट्टी की परत बनाएं। इसे वर्मी बेड कहते है।
4. मिट्टी पर पानी छिड़ककर भली प्रकार नमी बना लें।
5. मिट्टी की परत पर 8-10 स्थानों पर गोबर के ढेर बना दें।
6. मिट्टी में 50-75 केंचुए डालें।
7. इसे 5-10 सेमी. मोटी सूखी पत्तियों आदि वानस्पतिक पदार्थ की परत से ढक दें।
8. तैयार इकाई में पानी का छिड़काव करें और लगातार 30 दिन तक नमी बनाएं रखें।
9. 31वें दिन सप्ताह में दो बार 60 : 40 के अनुपात में सूखे और हरे वानस्पतिक पदार्थों से 5-10 सेमी. मोटी परत बिछाएं।
10. पूर्व के अनुसार 8-10 स्थानों पर गोबर के ढेर बना दें।
11. उपरोक्त प्रक्रिया से गड्ढे की भराई तब तक करें जब तक गड्ढा भर न जाएं।

12. सप्ताह में एक बार गड्ढे की ऊपरी परत की पलटाई भी करते रहें।
13. पूरा गड्ढा भरने के बाद जूट के बोरों या धान के पुआल से गड्ढे को ढक दें तथा नमी बनाए रखें।

गड्ढे से वर्मीकंपोस्ट निकालने की विधि

1. खाद निकालने के दो तीन पूर्व पानी का छिड़काव बंद कर दें। इससे केंचुए पानी की तलाश में नीचे चले जाएंगे।
2. ऊपर से हाथ द्वारा खाद को एक-दो बाद अलग कर ले तथा फर्श में नीचे उपलब्ध केंचुओं को पुनः गड्ढे में डाल दें।
3. खाद को निकाल कर फर्श या पोलीथीन पर ढेर बना दे।

वर्मीकंपोस्ट का भंडार

1. तैयार वर्मीकंपोस्ट को 2 मि.मी. की छन्नी से छान लें।
2. छनी हुई खाद को प्लास्टिक के थैलों में भरकर रखे।
3. तैयार वर्मीकंपोस्ट में 20-25 प्रतिशत नमी बनाए रखे।

वर्मीकंपोस्ट की प्रयोग विधि तथा मात्रा

1. वर्मीकंपोस्ट को फसलों की बुवाई अथवा रोपाई से पूर्व भूमि में मिला दें।
2. फल-वृक्षों में 1-10 किलो की मात्रा उम्र के अनुसार आवश्यकतानुसार थालों में भर दें।
3. खाद्यान्न फसलों में 5-6 टन प्रति हेक्टेयर की दर से प्रयोग करें।
4. गमलों में 100 ग्राम प्रति गमले की दर से प्रयोग करें।
5. सब्जी फसलों में 10-12 टन प्रति हेक्टेयर प्रयोग करते हैं।

सावधानियां

1. लगातार नमी बनाए रखें। (लगभग 25 से 30 प्रतशित नमी)
2. गड्ढे को धूप तथा वर्षा से बचाएं।
3. गड्ढे की भराई धीरे-धीरे करें अन्यथा तापमान बढ़ने से केंचुओं को हानि होती है।
4. गड्ढे में आधे सड़े वानस्पतिक पदार्थों का प्रयोग उत्तम है।
5. 25-30 सेन्टीग्रेड तापमान के बीच केंचुओं की वृद्धि अच्छी होती है।
6. लगभग दो महीने के बाद वर्मीकंपोस्ट तैयार हो जाता है।

वर्मीवाश विधि

क्या है?

यह वर्मीकंपोस्टिंग विधि पर आधारित एक तरल खाद है जिसका छिड़काव के रूप में प्रयोग किया जाता है।

क्यों?

1. पोधों के संपूर्ण विकास में सहायता करती है।
2. गोमूत्र के साथ प्रयोग करने पर कीटनाशी का कार्य करती है।
3. सूक्ष्म तत्वों की कमी की पूर्ति करती है।
4. तरल खाद के रूप में तुरंत लाभ हेतु इसका प्रयोग खड़ी फसलों पर कर सकते हैं।

वर्मीवाश में पोषक तत्व — इसमें नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटाश के अतिरिक्त हार्मोन (आक्सिन तथा साइटोकाइनिन)

की भी मात्रा पाई जाती है जो पौधों की वृद्धि एवं विकास में सहायक है।

बनाने की विधि

1. वर्मीवाश बनाने के लिए ड्रम, बड़ी बाल्टी, नांद अथवा बड़े गमले का प्रयोग करते हैं।
2. खुले मुँह वाले ड्रम के नीचे की सतह में 1 इंच व्यास का छेद करके एक टोंटी लगा दें।
3. सबसे निचली सतह में 25 सेमी. मोटी गिट्टी की परत लगाएं।
4. मिट्टी की परत के ऊपर 25 सेमी. मोटी मोरंग या बालू की परत बनाएं।
5. बालू की परत के ऊपर 30-45 सेमी. मोटी दोमट मिट्टी की परत बनाएं।
6. मिट्टी को नम बनाएं और 40-60 केंचुए डाल दें।
7. मिट्टी के ऊपर 4-6 गोबर के ढेर बनाएं।
8. मिट्टी की परत के ऊपर 5 सेमी. वानस्पतिक पदार्थ की परत बनाएं और इसे पानी से गीला करें तथा नीचे की टोंटी को खुला रहने दें।
9. 16-20 दिन बाद इसी प्रकार परत बनाएं और शाम को गीला करें तथा टोंटी खुली रहने दें।
10. इस ड्रम के ऊपर मिट्टी का घड़ा लटका दें, जिसकी तली में कई छेद करके कपड़े की बत्तियां लगाएं जिससे पानी बूँद-बूँद कर ड्रम में गिरता रहे।
11. 20 दिन बाद 5 लीटर पानी घड़े में भरें। अब प्रत्येक दिन सुबह टोंटी से 3-4 लीटर वर्मीवाश प्राप्त होने लगता है।

प्रयोग विधि

1. तरल खाद के रूप में प्रयोग करने के लिए इसे सात गुना पानी में मिलाकर सुबह या शाम पौधों पर छिड़काव करें।
2. वर्मीवाश + गोमूत्र में 10 गुना पानी लगाकर छिड़कने पर यह कीटनाशी तथा तरल खाद दोनों का कार्य करती है।

बायोडंग वर्मीकंपोस्ट

क्या है?

यह वानस्पतिक पदार्थों तथा जंगली घासों को कम समय में आधी-सड़ी अवस्था में परिवर्तित कर व्यावसायिक स्तर पर वर्मीकंपोस्टिंग करने की विधि है। यह पद्धति ग्रामोपयोगी विज्ञान केंद्र, वर्धा द्वारा विकसित की गई है।

क्यों?

इस विधि से तैयार आधी सड़ी खाद में वर्मी कंपोस्ट बनाकर प्रयोग करने पर वर्मीकंपोस्ट 30-40 दिन में ही तैयार हो जाता है। यह अल्प व्यय, अल्प समय एवं अल्प श्रम वाली पद्धति है इसलिए यह किसानों के लिए उपयोगी है।

कैसे?

(अ) आवश्यक सामग्री

1. 500-600 किलो वानस्पतिक पदार्थ।
2. पानी।
3. गोबर।
4. काली पोलीथीन, मिट्टी या पुआल।

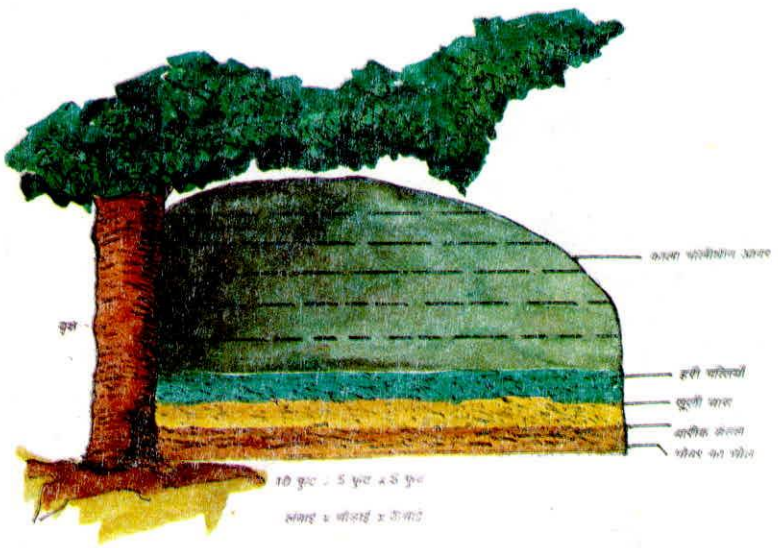

बायोडंग पद्धति

(ब) बनाने की विधि

1. इसमें 10 फुट लंबा 5 फुट चौड़ा तथा 5 फुट ऊंचा ढेर बनाया जाता है।
2. पहले 4 से 6 इंच मोटी डंठल की परत भूमि पर बनाएं।
3. इसके ऊपर सूखे तथा हरे वानस्पतिक पदार्थ की 4 से 6 इंच मोटी परत बनाएं। सूखा तथा हरा चारा 60 : 40 रहे।

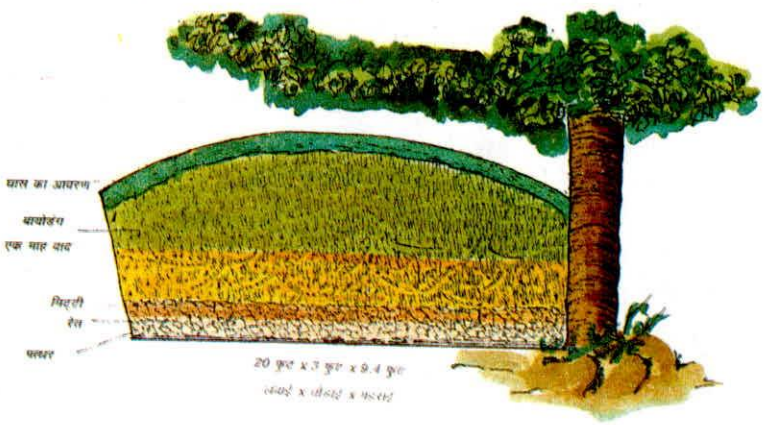

बायोडंग-वर्मीकंपोस्ट पद्धति

4. इस परत को 10 प्रतिशत गोबर के गाढ़े घोल से भली प्रकार नम कर लें।
5. इस प्रकार 5-6 परत बनाकर ढेर की ऊँचाई 5 फुट कर लें।
6. इस तैयार ढेर को काली पोलीथीन से या गीली मिट्टी से लीपकर या मोटी पुआल की परत से ढक दें।

7. इसके अंदर का ताप 50-60 डिग्री सेल्सियस तथा नमी भी 50-60 प्रतिशत लगभग 15-20 दिन तक रहती है।
8. 15-20 दिन बाद इस ढेर को पलटें तथा नमी बनाने हेतु पानी का छिड़काव करें और पुनः बंद कर दें।
9. 25-30 दिन बाद इस ढेर का ताप भी 25-30 डिग्री सेल्सियस हो जाता है।

कंपोस्ट का उपयोग — कंपोस्ट को खेतों में फसल की बुवाई से 5-6 दिन पहले फैला कर मिट्टी में मिला देना चाहिए। पर्याप्त नमी की उपस्थिति में ही इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। अक्सर किसान ग्रीष्म ऋतु में फसलों की बुवाई के 1-2 महीने पहले ही खेतों में कंपोस्ट छोड़ देते है जो कि हानिकारक होता है। धूप में खाद के सारे जीवाणु मर जाते हैं एवं पोषक तत्वों का भी हवा में नुकसान होता है। अतः वर्षा वस्तु में पहली वर्षा होने के बाद जब मिट्टी नम हो जाए तभी कंपोस्ट डालकर जमीन में मिला देना चाहिए।

जमीन में कंपोस्ट खाद की मात्रा निर्धारित करने से पूर्व निम्नलिखित कुछ मुख्य बिंदुओं को ध्यान में रखना आवश्यक है :

→ मिट्टी के परीक्षण द्वारा मिट्टी में उपलब्ध पोषक तत्वों की मात्रा की जानकारी प्राप्त करना।

→ उस क्षेत्र में बोई जाने वाली फसलों की वृद्धि एवं विकास के लिए कुल आवश्यक पोषक तत्वों की मात्रा की जानकारी प्राप्त करना।

क्योंकि अधिक कंपोस्ट की खाद के प्रयोग से बीज के अंकुरण पर विपरीत असर पड़ता है अतः सामान्यतः 2-10 टन कंपोस्ट खाद ही प्रति हे. क्षेत्रफल में आसानी से मिलाई जा सकती है।

अगले वर्ष इसकी मात्रा आधी पर देनी चाहिए। तीसरे वर्ष यह मात्रा और भी कम कर देनी चाहिए। तीन वर्ष लगातार कंपोस्ट खाद डालने से अगले तीन वर्षों तक अच्छी फसल ली जा सकती है। तीन वर्ष बाद थोड़ा-थोड़ा खाद हर वर्ष डालते रहने से जमीन की जीवाणु शक्ति एवं प्राकृतिक उर्वराशक्ति बनी रहती है। बाहर से किसी भी प्रकार का रासायनिक उर्वरक डालने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती है। इसी कारण कार्बनिक खाद हमारी प्राकृतिक खेती का मूल आधार है।

कंपोस्ट का मृदा पर प्रभाव — वैज्ञानिक विधि से तैयार कंपोस्ट का मृदा के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

(अ) भौतिक प्रभाव

1. मृदा में पानी के अवशोषण बह जाने से मिट्टी में भुरभुरापन आ जाता है जिसके कारण मृदा का कटाव कम हो जाता है।
2. ह्यूमस मृदा कणों को आपस में बाँधकर दानेदार संरचना बनाता है जिससे वायु संचार अच्छा होता है।
3. मृदा की पानी सोखने एवं रोके रखने की क्षमता में वृद्धि होती है।
4. बलुई मिट्टी के कणों को जोड़ता है तथा भारी मिट्टी (चिकनी) में भुरभुरापन बढ़ाता है।
5. मृदा ताप तथा अम्लता एवं क्षारीयता के परिवर्तन में प्रतिरोध उत्पन्न करता है।

(ब) रासायनिक प्रभाव

1. पौधों की वृद्धि विकास के लिए आवश्यक सभी प्राथमिक, द्वितीयक एवं सूक्ष्म पोषक तत्व कंपोस्ट खाद से प्राप्त होते हैं।

2. मृदा में उपलब्ध तत्वों की घुलनशीलता को बहा कर उसे पौधों को उपलब्ध कराता है।
3. कंपोस्ट खाद प्रयोग करने से मृदा पी. एच कम होता है।

(स) जैविक प्रभाव

1. मृदा के लिए लाभदायक जीवों की सक्रियता में वृद्धि करता है।
2. कंपोस्ट खाद का प्रयोग करने से लाभदायक सूक्ष्म जीवों की संख्या निरंतर बढ़ती रहती है।
3. कंपोस्ट खाद का प्रयोग करने से पादप हार्मोन तथा विटामिन भी संश्लेषित होते हैं जो पौधों की वृद्धि में सहायक होता है।

अध्याय - 5

प्राकृतिक खेती के संदर्भ में फसल उत्पादन और उसके प्रमुख आयाम

पिछले कुछ वर्षों में हमारे देश ने अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्यान्न आवश्यकता को नई कृषि तकनीकों द्वारा पूरा किया है। परंतु इन तकनीकों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का दोहन इस कदर किया गया कि खाद्यान्न उत्पादन में गिरावट शुरू हो गई जो कि भविष्य के लिए खतरे का संकेत है। ऐसी स्थिति में समगतिशील टिकाऊ उत्पादकता बनाए रखने के लिए प्राकृतिक खेती के संदर्भ में कृषि प्रबंध तथा उनके विकास पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है। इस अध्याय में प्राकृतिक खेती के संदर्भ में फसल उत्पादन के प्रमुख आयामों का संक्षेप रूप में वर्णन किया गया है।

भूमि, जल एवं जैव पदार्थ की प्रबंधन विधियों में आमूल परिवर्तन तथा सामुदायिक सामाजिक गतिशीलता का पूर्ण उन्मुखी कारण अथवा अभिन्यास आवश्यक है। वास्तव में भूमि के वास्तविक उपयोगकर्ताओं व भू स्वामियों को इस हेतु अभिप्रेरित करना चाहिए कि वे विशेषज्ञों द्वारा दी गई सलाह को विश्लेषित करके भूमि,

जल एवं जैव पदार्थ के प्रयोग के अपने परंपरागत ज्ञान के साथ उसका तालमेल कर सकें। इस प्रकार के परिवर्तन को लाना तथा इसके लिए क्षमता पैदा करना वर्तमान समय में एक अति महत्वपूर्ण कार्य है।

(क) प्राकृतिक खेती में हरी खाद की भूमिका

क्या है?

हरे पौधों को जुताई करके भूमि में मिला देने पर यह पदार्थ सड़कर भूमि को पोषक तत्व प्रदान करता है। इसे ही "हरी खाद" कहते हैं।

हरी खाद का अर्थ उन पत्तीदार फसलों से है जिनकी वृद्धि शीघ्र होती है तथा काफी मात्रा में बड़ी होने पर फूल-फल आने से पहले उन्हें जोतकर मिट्टी में दबा दिया जाता है। ये फसलें सूक्ष्म जीवों द्वारा विच्छेदित होकर ह्यूमस तथा पोधों के पोषक के तत्वों की मात्रा में वृद्धि करती हैं। शस्य प्रणाली में ऐसी फसलों का उपयोग "हरी खाद देना" कहलाता है।

क्यों?

1. हरी खाद के प्रयोग से मिट्टी की उर्वरा शक्ति में वृद्धि होती है। इसके अलावा हरी खाद के रूप में फलीदार फसलों का प्रयोग करने पर उनकी ग्रंथियों में पाए जाने वाले बैक्टीरिया वायुमंडल की नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करके उसे अव मृदा में स्थापित करते हैं।
2. यह मृदा की संरचना को सुधारती है।
3. मृदा जल के वाष्पीकरण को रोकती है।
4. मृदा में जल धारण क्षमता बढ़ती है।
5. मृदा में वायु का आवागमन अच्छा होने लगता है।

6. गहरी जड़ों वाली हरी खाद की फसलें नीचे से पोषक तत्वों का अवशोषण करके विच्छेदन के बाद ऊपरी सतहों में छोड़ देती है जिसका अवशोषण पौधे आसानी से कर लेते हैं।
7. नाइट्रोजन के साथ-साथ अन्य पोषक तत्वों की मात्रा में भी वृद्धि होती है।
8. हरी खाद की फसल से मृदा में भिगाया गया कार्बनिक पदार्थ सूक्ष्म जीवों के लिए भोजन का साधन भी है जिससे सूक्ष्म जीवों की सक्रियता बढ़ती है।
9. हरी खाद की फसलें मृदा को ढकने वाली फसलों के रूप में काम करती है और मृदा का वायु अपरदन तथा जल अपरदन कम करती है।
10. अम्लीय मृदा में हरी खाद वाली फसलें जोतने पर उनका पी.एच. बढ़ता है और उसके विपरीत लवणीय एवं क्षारीय मृदाओं में पी-एच कम होकर उदासीन मृदा बन जाती है।
11. हरी खाद वाली फसलें अत्यंत शीघ्रता से उगती है और इस प्रकार खरपतवारों की संभावित वृद्धि को पर्याप्त सीमा तक कम करती हैं।
12. मृदा ताप पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।
13. हरी खाद में नाइट्रोजन लगभग 2.76, फास्फोरस 0.24, पोटाश 2.06 तथा अन्य सभी पोषक तत्व सूक्ष्म मात्रा में पाए जाते हैं।

कैसे?

हमारे देश के विभिन्न भागों में मृदा एवं जलवायु की अवस्थाओं के अनुसार हरी खाद देने के विभिन्न ढंग अपनाए जाते हैं :

(क) **हरी खाद को उपजाकर खेतों में ही जोत देना** — इस विधि के अंतर्गत हरी खाद की फसल जिस खेत में उगाई जाती है उसी खेत में उसकी पलटाई कर दी जाती है। इस प्रकार की विधि के लिए ढैचा, ग्वार, सनई तथा लोबिया आदि फसलें उपयुक्त पाई गई है।

(ख) **हरी पत्तियों की खाद** — इस विधि के अंतर्गत जब हरी खाद की फसल उसी खेत में नहीं उगाई जा सकती है जिसमें उसका उपयोग करना होता है तो उसे अन्य खेतों में उगा करके समय पर कटाई करके पत्तियों सहित तने को दूसरे खेतों में मिट्टी में मिला दिया जाता है।

(ग) **हरी खाद की फसल के आवश्यक गुण** — अच्छी हरी खाद की फसल में निम्न गुणों का होना आवश्यक है :

1. फसल खूब बढ़ने वाली तथा खूब पत्तियों वाली तथा शाखादार हो, ताकि प्रति हेक्टेयर अधिक से अधिक मात्रा में मृदा में कार्बनिक पदार्थ मिलाया जा सकें।
2. फसलें फलीदार होनी चाहिए जिससे वायुमंडल में मुक्त नाइट्रोजन का मृदा में अधिक स्थिरीकरण हो सके।
3. बीज सस्ता एवं आसानी से मिलने वाला हो।
4. फसल कीट एवं रोगों की अवरोधी हो।
5. हरी खाद की फसलें कम पानी चाहने वाली होनी चाहिए।

(घ) **हरी खाद की तकनीक** — हरी खाद की फसल का चयन करते समय निम्नलिखित कुछ प्रमुख बिंदुओं पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है :

1. हरी खाद की फसल में यह गुण होना चाहिए कि वह सभी मृदाओं में सफलतापूर्वक उगाई जा सकें।
2. अच्छी हरी खाद के लिए नम जलवायु का होना आवश्यक है। कम से कम 25 इंच वर्षा भी आवश्यक है।

3. यदि धान की फसल के लिए हरी खाद का प्रयोग करना हो तो इसकी बुवाई मार्च के मध्य में करनी चाहिए। यदि रबी की फसल में हरी खाद देनी हो तो प्रथम वर्षा के आरंभ होते ही जून में बुवाई कर देते हैं।
4. जब फसलों में कहीं-कहीं फूल निकलना शुरू हो तो वही समय फसलों की पलटाई के लिए उपयुक्त होता है।
5. खरीफ की फसल के लिए हरी खाद की फसल की पलटाई 25 जून तक कर देनी चाहिए, तथा रबी फसल के लिए 15-20 अगस्त।

(ङ) **हरी खाद के लिए उपयुक्त फसलें**

1. सनई—फलीदार
2. ढेंचा—फलीदार
3. उर्द, मूँग—फलीदार
4. ग्वार, लोबिया—फलीदार
5. मेथी—फलीदार
6. कुलची—फलीदार
7. चना—फलीदार
8. अरहर
9. पालक आदि।

(च) **हरी खाद का प्रभाव** — पौधों की वृद्धि एवं विकास के सभी आवश्यक पोषक तत्व हरी खाद में पाए जाते हैं। इससे मृदा में 35 से 120 किलो ग्राम नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर की दर से प्राप्त होता है तथा उपज 3 से 21 प्रतिशत तक बढ़ जाती है। कृषि-पंडित घाघ की यह कहावत किसानों में आज भी प्रचलित है

"सनई के डंठल खेत छिटावें।
तिनके लाभ चौगुना पावें।।"

हरी खाद का प्रयोग करने में सावधानियाँ

1. हरी खाद के लिए कोमल तनों और पत्तियों वाली फसलों का प्रयोग करना चाहिए जिससे फसलों का अपघटन आसानी से हो सके।
2. कम वर्षा वाले क्षेत्रों में सिंचाई का साधन रहने पर ही हरी खाद का प्रयोग करना चाहिए।
3. फसल की पलटाई फूल आने के समय करनी चाहिए।
4. हरी खाद की फसल भलीभाँति मिट्टी में दब जाए ताकि सड़ाव ठीक प्रकार से हो सके।
5. यदि फसल पलटने के उपरांत खेत में नमी का अभाव हो तो आवश्यकतानुसार खेत की सिंचाई कर देनी चाहिए।

(ख) **प्राकृतिक खेती में जैव उर्वरकों की भूमिका** — यह सर्वविदित है कि देश में अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए सघन खेती का अनुकरण कर अकार्बनिक उर्वरकों तथा अन्य रसायनों का अंधाधुंध प्रयोग किया जा रहा है जिसके फलस्वरूप भूमि की उर्वरता तथा उत्पादन-शक्ति क्षीण हुई है। जैविक खादों एवं अकार्बनिक उर्वरकों के मिले-जुले उपयोग से इन दोषों से बचाया जा सकता था। परंतु सघन खेती के प्रसार ने जैविक खादों के उपयोग को न के बराबर कर दिया है। जैविक खाद पौधों को पोषक तत्व अपर्याप्त मात्रा में तथा धीमी गति से उपलब्ध कराती है। अतः लक्ष्य के अनुसार कृषि उत्पादन प्राप्त करने, भूमि की उर्वरता को बनाए रखने, उत्पादन लागत कम करने तथा पर्यावरण व स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से आधुनिक कृषि में जैव-उर्वरकों का महत्वपूर्ण योगदान है। उत्तम गुणों से संपन्न फसल-

विशिष्ट जैव उर्वरकों का भली-भाँति प्रयोग कर उपरोक्त समस्याओं से पूर्णतः राहत प्राप्त की जा सकती है।

जैव उर्वरक

'जैव उर्वरक' शब्द वायु मंडलीय नाइट्रोजन को स्थिर करने वाले तथा मृदा पोषक तत्वों की विलेयता को प्रभावित करने वाले सूक्ष्म जीवों को व्यक्त करता है, जैसे राइजोबियम, एजोटोबैक्टर, एजोस्पिरिलम, एजोला, नील हरित शैवाल और माइकोराइजा जो महत्वपूर्ण योगदान देकर फसलों की उपज बढ़ा सकते हैं। किसानों के उपयोग के लिए देश में निम्नलिखित जैव उर्वरकों का उत्पादन करके उन्हें उपलब्ध कराया जा रहा है :

क्र. जैव कल्चर	फसलें
1. राइजोबियम कल्चर	दलहनी फसलों के लिए
2. एजोटोबैक्टर कल्चर	सभी खाद्यान्नों, तिहलन, कपास, गन्ना, सब्जियों के लिए
3. एजोस्पिरिलम कल्चर	मोटे खाद्यान्नों तथा धान के लिए
4. नील हरित शैवाल	खड़े पानी वाले धान के लिए
5. एजोला फर्न	खड़े पानी वाले धान के लिए
6. फास्फोटिका कल्चर	सभी फसलों को फास्फेट उपलब्ध कराने के लिए
7. एसिटोबैक्टर कल्चर	केवल गन्ने के लिए
8. कंपोस्टिंग कल्चर	कंपोस्ट जल्दी तैयार करने के लिए

जैव उर्वरकों को (कृषि योग्य भूमि) में पाए जाने वाले उपयोगी जीवाणुओं का संवर्धन (कल्चर) कहा जा सकता है जिसे उचित माध्यम या वाहक के साथ मिलाकर खाद की भाँति प्रयोग किया जाता है। इससे भूमि की उर्वरा शक्ति प्राकृतिक तरीके से बढ़ती

है। जैव उर्वरक का प्रयोग अक्सर बीजोपचार के लिए किया जाता है जिससे अंकुरण के समय ये जीवाणु पौधों की जड़ों में या उसके आस-पास की भूमि में आश्रय लेते हैं। बीजोपचार, बोने से पहले ठंडी जगह पर उपयुक्त विधि से किया जाना चाहिए। जैव उर्वरकों तथा उपचारित बीजों को गर्म जगह एवं धूप से बचाकर रखना चाहिए। जैव उर्वरकों के प्रयोग से उपज में 10-25% तक की बढोतरी हो सकती है।

राइजोवियम — यह एक नमी युक्त पदार्थ एवं जीवाणु का मिश्रण है जिसके प्रत्येक एक ग्राम भाग में 10 करोड़ से अधिक राइजोवियम जीवाणु होते हैं। यह जैव उर्वरक केवल दलहनी फसलों में ही प्रयुक्त किया जा सकता है। यह फसल-विशिष्ट होता है, अर्थात् फसल विशेष में अलग-अलग प्रभार के राइजोवियम जैव उर्वरक का प्रयोग होता है। राजोवियम जैव उर्वरक से बीज उपचार करने पर ये जीवाणु खाद बीज पर चिपक जाते है। बीज अंकुरण पर ये जीवाणु पौधों की जड़ों में प्रवेश करके जड़ों पर ग्रंथियों का निर्माण करते है। ये ग्रंथियां नाइट्रोजन स्थिरीकरण इकाइयाँ है, तथा पौधों की बढ़वार इनकी संख्या पर निर्भर करती है। अधिक ग्रंथियों के होने पर पैदावार भी अधिक होती है।

किन फसलों में इनका प्रयोग किया जा सकता है —अलग-अलग फसलों के लिए राइजोवियम जैव उर्वरक के अलग-अलग पैकेट उपलब्ध होते हैं जो निम्न हैं :

क्रं.	राइजोवियम की जातियाँ	वर्ग	फसलें
1.	राइजोवियम मेलीलोटी	रिजका	रिजका, स्वीट क्लोवर
2.	राइजोवियम ट्राईफोली	तिप तिपा	क्लोवर, तिप तिपा

किलो ग्राम जैव उर्वरक को 10 ली. पानी में मिलाकर साफ कपड़े से छान लें तथा लगभग 10 कुंतल कंदों पर स्प्रे करें या इस घोल में 10 मिनट तक डुबाकर रखें और तुरंत बो दें।

(घ) **मृदा उपचार** — 2-3 किलो ग्राम जैव उर्वरक को 40-60 किलो ग्राम कंपोस्ट या खेत की मिट्टी में मिलाकर एक एकड़ भूमि में बुवाई के समय या पहली सिंचाई के पूर्व (खेत में) समान रूप से छिड़क दें।

सावधानियाँ —

1. जैव उर्वरक का भंडारण ठंडे स्थान (20-25 से. ग्रे.) पर करें।
2. जैव उर्वरक का धूप से बचाव करें।
3. जैव उर्वरक का प्रयोग पैकेट पर लिखी फसल में ही करें।

एजोटोबेक्टर जीवाणु से लाभ —

1. फसलों की पैदावार 10 से 20 प्रतिशत तक बढ़ जाती है तथा फलों एवं दानों का प्राकृतिक स्वाद बना रहता है।
2. इसके प्रयोग से 20 से 30 किलो ग्राम नाइट्रोजन की बचत भी की जा सकती है।
3. इसके प्रयोग से अंकुरण शीघ्र और स्वस्थ होता है तथा जड़ों का विकास अधिक एवं शीघ्र होता है।
4. फसलें भूमि से फास्फोरस का अधिक प्रयोग कर लेती हैं जिससे कल्ले अधिक बनते हैं।
5. जैव उर्वरकों के जीवाणु बीमारी फैलाने वाले रोगाणुओं का दमन करते है, जिससे फसलों का बीमारियों से बचाव होता है तथा पौधों में रोग-प्रतिरोध क्षमता बढ़ती है।

6. जैव उर्वरकों का प्रयोग करने से जड़ों एवं तनों का अधिक वर्षा एवं सूखे की स्थिति को सहने की क्षमता बढ़ जाती है।

नील हरित शैवाल

क्या है?

नील हरित शैवाल मिट्टी के सदृश सूखी पपड़ी के टुकड़ों के रूप में होते हैं। ये एक-कोशकीय और नम मिट्टी तथा स्थिर पानी के स्वतंत्र जीवित जीवाणु है। ये सूक्ष्म जीवाणु हर ऋतु में प्रति हे. 20-30 किलो ग्राम की दर से पर्यावरण के नाइट्रोजन का एकत्रीकरण करने की क्षमता रखते हैं और उसे पौधों को प्रदान करते हैं। साथ-साथ ये पौधों की बढ़त के लिए अन्य कई पदार्थ भी पैदा करते है। इस प्रकार धान की पैदावार 10-15 प्रतिशत तक बढ़ जाती है। नील हरित शैवाल के प्रयोग से लगभग 30 प्रतिशत रासायनिक नाइट्रोजन उर्वरकों की बचत होती है।

क्यों?

1. इसके प्रयोग से भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है तथा मृदा की भौतिक दशा में सुधार होता है।
2. कार्बनिक तत्वों की वृद्धि से मृदा की जल-धारण क्षमता में वृद्धि होती है।
3. पौधों के लिए ग्राह्य फास्फोरस की मात्रा में भी वृद्धि होती है।
4. नील हरित शैवाल द्वारा विभिन्न प्रकार के अमीनो अम्ल, वृद्धि नियंत्रक, विटामिन बी-12 भी मिलते हैं जो अलग-अलग तरीकों से पौधों को स्वस्थ रखते है एवं उनकी गुणवत्ता बढ़ाते हैं।

5. यह विधि काफी सस्ती है और इसे कृषक स्वयं तैयार कर सकते है।

कैसे?

1. खेत में खुले स्थान पर कम (लगभग एक फुट) गहरी एक मीटर चौड़ी तथा 5 मीटर लंबी क्यारियाँ बना लें।
2. क्यारियों में 400-500 गेज मोटी सफेट पोलीथीन बिछा लें।
3. इन क्यारियों को पक्की छत पर ईंटों को जोड़कर बना सकते हैं। इसमें पोलीथीन बिछाने की आवश्यकता नहीं होती है। कच्ची छत पर बनाने पर मोटी पोलीथीन बिछानी चाहिए।
4. प्रत्येक क्यारी में 5 किलो ग्राम खेत की मिट्टी + 500 ग्राम सिंगल सुपर फास्फेट और 4-5 इंच पानी (वातावरण में नमी या सूखे के आधार पर) भरकर अच्छी तरह मिला लें।
5. जब मिट्टी पानी में बैठ जाए तो शैवाल कल्चर 500 ग्राम प्रति क्यारी के हिसाब से क्यारियों में बिखेर दें।
6. कुछ ही दिनों में शैवाल की एक मोटी परत क्यारियों में बन जाती है। यदि मोटी परत बनने से पहले पानी सूखने लगे तो क्यारियों में धीरे-धीरे पानी डाल दें। जब शैवाल की मोटी परत बन जाए तो पानी डालना बंद कर दें। इसके बाद क्यारियों को सूखने के लिए छोड़ दें।
7. पूर्णतया सूख जाने पर शैवाल की परत पपड़ियों के रूप में टूट जाती है। इन सूखी पपड़ियों को बैग में भरकर खेत में प्रयोग के लिए रख लें।

सावधानियाँ —

1. क्यारियों में डाली जाने वाली मिट्टी साफ तथा भुरभुरी होनी चाहिए।
2. नाइट्रोजन उर्वरकों का प्रयोग क्यारियों में न करें।
3. शैवाल की पपड़ियों की थैलियों को नमी से दूर रखें।
4. शैवाल कल्चर डालने के बाद क्यारियों को बच्चों तथा जानवरों से सुरक्षित रखें।
5. शैवाल की पपड़ियों को रासायनिक दवाइयों के साथ नहीं मिलाना चाहिए।

खेत में प्रयोग की विधि — धान की रोपाई के लगभग 6-7 दिन बाद 12.5 किलो ग्राम प्रति हेक्टेयर के हिसाब से शैवाल कल्चर खेत में स्थिर पानी के ऊपर बिखेर दें। परंतु यह ध्यान रहे कि कल्चर डालने के बाद लगभग 4-5 दिन तक खेत में पानी स्थिर रहे।

एजोस्प्रिलम — यह जैव उर्वरक एजोस्प्रिलम नामक जीवाणु को मिश्रित करके बनाया जाता है। ये जीवाणु उष्ण स्थानों पर उगी हुई घासों की जड़ों की सतह पर तथा सतह के भीतर उपस्थित रहकर वायुमंडलीय नाइट्रोजन का स्वतंत्र रूप से स्थिरीकरण करके उसे पौधों को प्रदान करते है। इस जैव उर्वरक से नाइट्रोजन तत्व की आवश्यकता आंशिक रूप से पूरी हो सकती है। धान, गन्ना, मोटे अनाज, केला, कपास तथा अन्य उद्यानिक फसलें इस जैव उर्वरक के प्रयोग के लिए उपयुक्त है। इसके प्रयोग से पौधों को 20-40 किलो नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर प्राप्त हो सकती है।

फास्फोरस की संचारक जीवाणु खाद — कुछ कवक तथा बैक्टीरिया में मृदा में उपस्थित अघुलनशील फास्फोरस को घुलनशील बनाकर फसलों को प्रदान करने की क्षमता होती है। इन्हें फास्फेट

विलेयकारी जैव उर्वरक कहते है। इनसे अघुलनशील फॉस्फेट (ट्राई कैल्शियम, फास्फेट, मैग्नीशियम फॉस्फेट, रॉक फास्फेट एवं बोन मील) घुलनशील होकर पौधों को उपलब्ध हो जाते है। ये सभी फसलों में प्रयुक्त किए जा सकते हैं। बीजों को बुवाई के पहले उपचारित कर लेना चाहिए। कुछ फॉस्फेट विलेयकारी जीवाणु निम्न हैं :

(1) माइकोराइजा
(2) स्यूडोमोनास स्ट्रेटा
(3) बैसीलस मैगाटेरियम
(4) एस्परजिलस अवामोरी
(5) बैसीलस पोलीमिक्सा आदि।

लाभ

1. विभिन्न फसलों पर किए गए अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि फास्फेट विलेयकारी जैव उर्वरकों के प्रयोग से फसलों की पैदावार 10-30 प्रतिशत बढ़ जाती है। साथ ही साथ मिट्टी में उपलब्ध फास्फोरस की 30 से 50 प्रतिशत बचत भी की जा सकती है।
2. जड़ों का विकास अधिक होता है जिससे पौधा स्वस्थ बना रहता है।
3. पौधों के कल्ले अधिक निकलते है।
4. इनके प्रयोग से कुछ वृद्धिकारक पदार्थों (जैसे विटामिन हार्मोन आदि) के विसर्जन से बीजों का अंकुरण शीघ्र होता है तथा जड़ों का विकास भी।
5. इसके प्रयोग से भूमि में उपलब्ध लाभकारी सूक्ष्मजीवों की सक्रियता बढ़ती है जिससे वायुमंडलीय नाइट्रोजन के स्थिरीकरण एवं पोषक तत्वों की उपलब्धता भी बढ़ जाती है।

उपयोग विधि

(1) **बीज उपचार** — 200 ग्राम फास्फोरस संचारक जैव उर्वरक का 200-500 मि. ली. पानी में घोल बनाएं तथा इस घोल को किसी छायादार जगह पर 10-12 किलो ग्राम बीजों पर डालकर दोनों हाथों से भली प्रकार तब तक मिलाएं जब तक सभी बीजों पर कल्चर की एक समान परत न चढ़ जाए। तत्पश्चात् बीजों की तुरंत बुवाई कर दें।

(2) **पौध जड़/कंद उपचार** — 1-2 किलो ग्राम का 10-20 लीटर पानी में घोल बनाएं जो एक एकड़ पौध-जड़ के लिए या 10 क्विंटल कंद के उपचार के लिए पर्याप्त है। इस घोल में कंद को या पौध की जड़ों को 10-15 मिनट तक डुबोकर रखें, तत्पश्चात् इनकी रोपाई, बुवाई करें।

(3) **मृदा उपचार** — 2-3 किलो ग्राम फास्फोटिका जैव उर्वरक का 40-60 किलो ग्राम कंपोस्ट, भुरभुरी मिट्टी में मिश्रण तैयार कर आखिरी जुताई के समय या फिर फसल में पहली सिंचाई से पूर्व समान रूप से खेत में छिड़क दे।

सावधानियाँ —

1. फास्फोरस का संचार करने वाले जैव उर्वरक को गर्मी या सूर्य की सीधी रोशनी से बचाएं।
2. कल्चर का उपयोग अंतिम तिथि से पूर्व ही करें।
3. कीटनाशी फफूंदी रसायनों के साथ जैव उर्वरक नहीं मिलाना चाहिए।

एजोला फर्न — यह ठंडे मौसम में स्थिर पानी के ऊपर तैरते हुए पाया जाता है। इसके कारण पानी की सतह दूर से हरे या लाल रंग की चटाईनुमा सतह सी लगती है। इसकी पत्तियां बहुत छोटी तथा मोटे आकार में होती है। इन पत्तियों के नीचे छिद्रों में

सहजीवी साइनो बैक्टीरिया पाया जाता है जो नाइट्रोजन स्थिरीकरण में सहायक है। फर्न-शैवाल का यह गठबंधन अद्‌भुत है क्योंकि दोनों ही फोटो सिंथेटिक सहजीवी हैं तथा नाइट्रोजन स्थिरीकरण में प्रभावी हैं। यह जलमग्न धान के खेतों में बुवाई के एक सप्ताह बाद 10 कु. प्रति हेक्टेयर की दर से उगाया जा सकता है। यह दो किलो तक नाइट्रोजन प्रतिदिन स्थिर कर सकता है अथवा भूमि में हरी खाद की तरह (10 टन प्रति हेक्टेयर) मिलाकर भी इसका प्रयोग किया जा सकता है। दो फसलों के रूप में उगाए जाने के उपरांत यह भूमि में मिलकर सड़-गल जाता है। इसके उगाने से धान के खेत में खरपतवार कम पनपते हैं। इसके प्रयोग से 40-80 किलो तक नाइट्रोजन की बचत की जा सकती है।

(ग) **प्राकृतिक खेती में जैव कीटनाशी की भूमिका** — विकासोन्मुख देशों की जन्म दर अधिक होने के कारण जनसंख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। दूसरी ओर भू-क्षेत्रों में कमी के साथ-साथ प्राकृतिक संसाधनों का दोहन इस तरह से होने लगा है कि फसलों के उत्पादन एवं प्राकृतिक संसाधनों का ह्रास निरंतर हो रहा है।

कीट, व्याधियों तथा अन्य जैविक बाधाओं की बढ़ती हुई संख्या, मात्रा एवं दबाव के कारण पैदावार को 20-25 प्रतिशत हानि पहुँचती है। कीटाणुओं के प्रकोप से फसलों की रक्षा करने में कृत्रिम कीटनाशियों के अंधाधुंध एवं अनियंत्रित प्रयोग से वातावरण एवं जीव जंतु इस हद तक प्रभावित हुए है कि आज प्रत्येक देश इनके उपयोग पर प्रतिबंध लगा रहा है। इनके निरंतर प्रयोग से भूमि, जल, वायु एवं आहार में तो बढोतरी हुई है किंतु जैविक संतुलन बिगड़ रहा है। ऐसी स्थिति में कीट एवं व्याधियों को कम करने के लिए रासायनिक कीटनाशियों के विकल्प के रूप में

फसलों की प्रतिरोधी क्षमता को बढ़ाने के लिए यांत्रिक विधियों तथा जैविक विधियों को अपना कर मानव समुदाय एवं वातावरण को हानिकारक प्रभावों से मुक्त रखा जा सकता है।

फसलों के शत्रु एवं मित्र कीट

कीटनाशियों से समस्याएं — नाशी कीटों के नियंत्रण में कीटनाशियों के अंधाधुंध प्रयोग से निम्न प्रमुख समस्याएं उत्पन्न हुई है :

→ **मानव स्वास्थ्य** — कीटनाशियों का खाद्य शृंखला द्वारा शरीर में प्रवेश।

→ **जमीन की उर्वरा शक्ति** — लाभदायक जीव जंतु मर रहे है।

→ **पीने का पानी** दूषित हो रहा है।

→ **पर्यावरण के लाभकारी मित्र** जैविक कीट, परागण करने वाले कीटों, पक्षियों की संख्या में कमी होती जा रही है।

→ फसलों पर लंबे समय तक पड़े **विषैले पदार्थों** के कारण निर्यात में बाधा हो रही है।

→ नाशी कीटों में कीटनाशियों के प्रति बढ़ता **प्रतिरोध**।

उपरोक्त समस्याओं के निराकरण के लिए जैव कीटनाशियों का प्रयोग विकल्प के रूप में उपयोगी हो सकता है।

जैव कीट नियंत्रण जैव कीटनाशियों का उत्तम उदाहरण है। यह एक प्रगतिशील विचारधारा है जिसमें परजीवियों, परभक्षियों एवं सूक्ष्म जीवियों का समझदारी से प्रयोग किया जाता है जिससे नाशी कीटों पर सफलता-पूर्वक नियंत्रण किया जा सके। इसलिए नाशी कीटों के प्राकृतिक शत्रुओं को खोजकर, इकट्ठा कर या अधिक संख्या में पालकर इन्हें उनके विरुद्ध नियंत्रण के लिए प्रयोग किया जाता है।

जैव कीट नियंत्रण के विभिन्न कारक

(क) **प्राकृतिक परजीवी, शिकारी एवं सूक्ष्म जीवाणुओं का संरक्षण एवं उपयोग** — कई प्रकार के परजीवी कीट जो किसान के लिए मित्र है उनकी पहचान करना तथा ये किन कीटों पर अपना जीवन-यापन करके उनकी संख्या कम करते है इसकी जानकारी कृषकों के लिए महत्वपूर्ण है। पूरी फसल में उनका एक

प्राकृतिक स्तर बनाए रखना चाहिए। कीटनाशियों के लगातार प्रयोग से ये मर जाते है या इनकी संख्या कम हो जाती है, जैसे लेडी बर्ड विटिल जो माँहू या चेपा को खाता है। इसके अलावा क्राईसोपरला शिकारी कीट और हेली कोबर्पा वाइरस आदि भी लाभकारी है। उनकी क्षमता तथा संख्या बढ़ाकर भी फायदा उठाया जा सकता है।

(ख) **परजीवी कीटों का प्रयोग** — परजीवी कीट अब कीटों की जनसंख्या को नियंत्रित करने में विशेष भूमिका निभाने लगे है। ट्राईकोग्रेमा जैपोनिकम तथा नीम-आधारित कीटनाशियों का साथ-साथ उपयोग करने से धान के पत्ती मोड़क तथा तना बेधक कीटों को सफलतापूर्वक नियंत्रण में रखा जा सकता है। ट्राइकोग्रेमा परजीवियों की और भी बहुत सारी प्रजातियों का प्रयोग कीट नियंत्रण में किया जा रहा है। जिसमें ट्राइकोग्रेमा किलोनिस तथा ट्राइकोग्रेमा एम्ब्रोवायफेगम प्रमुख है। ट्राइकोग्रेमा किलोनिस का प्रयोग गन्ने के तना छेदक कपास वालवर्म तथा हेलिकोवर्पा को नियंत्रित करने के लिए किया जाता है। ट्राइकोग्रेमा एमब्रोवायफेगम का इस्तेमाल फोडलिंग मौथ को नष्ट करने के लिए किया जाता है। ट्राइकोग्रेमा का प्रयोग गन्ना, कपास, सेब, टमाटर, मूँगफली, सूरजमुखी, अनाज की फसलें, सब्जियों तथा फूल के पौधों में किया जाता है। एक हेक्टेयर में लगभग 50,000-1,00,000 कीटों को छोड़ना चाहिए। ये ट्राइकोकार्ड के रूप में उपलब्ध होते हैं। एक ट्राइकोकार्ड पर लगभग 20,000 परजीवी अंडे होते हैं। इस ट्राइकोकार्ड के छोटे-छोटे टुकड़े टिकट की तरह अलग-अलग किए जा सकते है। इन्हें शाम के समय पत्तियों के नीचे पिन से लगा दिया जाता है। कीटों के आक्रमण को ध्यान में रखते हुए इन्हें 8 से 10 दिन के अंतराल पर 5-6 बार तक छोड़ा जा

सकता है। कुछ अन्य परजीवी भी तना-वेधक कीट के अंडों पर आक्रमण करते है, जैसे टेलेनोमस व टेट्रास्टिकस।

(ग) **परभक्षी कीटों का प्रयोग** — परभक्षी कीट मुख्यतः हमारे खेतों में पाए जाते हैं। परंतु आवश्यकता इस बात की है कि इनको संरक्षित करके इनका उपयोग किया जाए। कोकसीनलेड परभक्षी जैसे काइलेकोनस, फेरोसाइमनस, क्रिप्टोलेनिस, सोयामस तथा मैनी चुलस इत्यादि घोंघों, माइटस, मिलीबग्स तथा कोक साइडस इत्यादि को खाकर नींबू, अंगूर, काफी तथा अमरूद जैसे फलदार वृक्षों को संरक्षित कर देते हैं। इसी तरह मिरिड परभक्षी क्राइटोरनस धान के भूरा पौध फुदका तथा हरी पत्ती फुदका को खाकर नष्ट कर देते है। ग्रीनलेस विंग क्राईसोया भी एक महत्वपूर्ण परभक्षी है जो माहूँ, मिलीवेग तथा गिडार को सफाचट कर जाता है। मकड़ियां भी कीट नियंत्रण में बहुत सहायक सिद्ध हुई हैं। बूल्फ, मकड़ी तथा लाइकोसा धान की फसल में अच्छे कीट नियंत्रक का कार्य कर रही हैं। इसके साथ ही कुछ कीट जैसे कैम्टोव्लेस्टिस, कैक्टोरम तथा लेनटाना बग का प्रयोग नागफनी तथा लेनटाना झाड़ी को नियंत्रित करने के लिए सफलतापूर्वक किया जा चुका है। इन परजीवियों एवं परभक्षियों को बेंगलूर के राष्ट्रीय जैव नियंत्रण केंद्र अथवा भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली एवं भारत सरकार के पौध संरक्षण एवं संगरोध निदेशालय, फरीदाबाद से प्राप्त किया जा सकता है।

(घ) **परभक्षी पृष्ठ-दंडधारी जीव** — उपर्युक्त परजीवी कीटों के अतिरिक्त कुछ पृष्ठ-दंडधारी जीव भी कीटों को पकड़ कर खाते है। इनमें प्रमुख हैं-मछलियाँ, मेंढक, कछुआ, साँप, छिपकली, गोह तथा अन्य विभिन्न प्रकार की चिड़ियाँ, चमगादड़, चूहे, छंछूदर तथा नेवला आदि। नाशी कीटों का नियंत्रण अधिकांशतया चिड़ियों द्वारा ही अधिक संभव हुआ है।

परजीवी और परभक्षी कीटों के उपयोग की विधियाँ

(1) **संरक्षण** — कीटनाशी दवाओं का प्रयोग न करने से इनकी संख्या एवं क्रियाशीलता अपने आप बढ़ती है। विशेष कर मिश्रित खेती में ये नाशी कीटों के नियंत्रण में सफल रहे।

(2) **प्रवेशित करना** — इसके अंतर्गत प्राकृतिक शत्रुओं को सीमित मात्रा में छोड़ा जाता है जिससे वे अपने पोषक कीटों को ढूँढ़कर व्यवस्थित हो सकें। यह विधि प्रायः आयतित नाशी कीटों के उन्मूलन के लिए प्रयोग में लाई जाती है।

(3) **आप्लावन या बाढ़** — इस विधि के अंतर्गत प्राकृतिक शत्रुओं को बहुत बड़ी संख्या में प्रयोगशाला में पैदा किया जाता है। फिर इन्हें फसलों पर नाशी कीटों के विरुद्ध छोड़ा जाता है। परजीवियों एवं परभक्षियों के इस प्रकार बड़ी संख्या में छोड़े जाने से नाशी कीटों पर शीघ्र नियंत्रण होता है, पर साथ ही परजीवी एवं परभक्षी कीट भी नष्ट हो जाते है। यह विधि प्रायः ऐसी फसलों के नाशी कीटों के विरुद्ध प्रयोग में लाई जाती है जो कि साल में एक बार ही होती हैं।

(ङ) **सूक्ष्मजैविक नियंत्रण** — सूक्ष्मजीवियों से उत्पन्न कराए गए रोगों से नाशी कीटों के नियंत्रण को सर्वप्रथम स्टेनहोस ने 1649 में 'सूक्ष्मजैविक नियंत्रण' के रूप में प्रतिपादित किया। यह मुख्य रूप से कीट नियंत्रण के लिए किया जाता है। ये रोगाणु सूक्ष्मजीवी होते हैं जिसमें मुख्य रूप से विषाणु (वायरस) बैक्टीरिया, प्रोटोजोआ, कवक, रिकेट्स एवं सूत्रकृमि है। इनकी पहचान के लक्षण नीचे दिए जा रहे हैं —

(1) **बैक्टीरिया** — बैक्टीरिया से प्रभावित संक्रमित कीट या उसका लार्वा मुलायम हो जाता है या सूखकर शल्क की भाँति हो जाता है। इसके अतिरिक्त उसका शरीर गहरे रंग का हो जाता है

और ऊतकों के गलने से सड़ी हुई बदबू आती है। कभी-कभी शरीर दूध के समान सफेद अथवा लाल रंग का भी हो जाता है। बैक्टीरिया से प्रभावित कीट अपने प्रपादों द्वारा पौधों की शाखाओं से लटके मिलते है। बैक्टीरिया मध्यांत्र में पहुँच कर कीट में पक्षाघात उत्पन्न करता है।

(2) **विषाणु** — इससे प्रभावित लार्वे पौधों की सतहों, टहनियों अथवा पत्तियों की सतहों से लटके मिलते हैं। संक्रमित जीव का शरीर नीला सा हो जाता है। विषाणु से संक्रमित लार्वा खाना छोड़ देता है और निष्क्रिय होकर मर जाता है। कीट के शरीर से द्रव के रूप में टूटे-फूटे ऊतक निकलते हैं। विषाणु मुँह, अध्यावरण, श्वास रंध्रों तथा अंडों से फैलते है।

(3) **कवक** — इनसे लार्वे का शरीर कड़ा अथवा पनीर के समान हो जाता है। कवकों के तंतुओं के फैलने से लार्वा मर जाता है तथा संक्रमित कीट तनों से पैरों की सहायता से लिपटे मिलते हैं। मक्खियाँ सफेद चूर्ण से ढकी देखी जा सकती हैं।

(4) **प्रोटोजोआ** — इनके प्रकोप से कीट का शरीर मुलायम होकर आसानी से टूट जाता है। संक्रमित जीव को सुखाया जाए तो पानी में सफेद पदार्थ मिलता है। पानी में लार्वा के शरीर के अंदर वसा-पिंडों में इधर-उधर सफेद रंग के पदार्थ के रूप में प्रोटोजोआ की उपस्थिति देखी जा सकती है। प्रोटोजोआ द्वारा उत्पन्न रोग धीरे-धीरे फैलता है जिससे कीट देर से मरता है।

कीट नियंत्रण में सूक्ष्मजीवियों का उपयोग — सूक्ष्मजीवियों से परपोषी (नाशी कीट) की मृत्यु दो प्रकार से होती है। पहला है सीधा संक्रमण और दूसरा कुछ सूक्ष्मजीवियों द्वारा आविष उत्पन्न किया जाना। इससे कीट अंतः क्षिप्त होकर समाप्त हो जाता है।

सूक्ष्मजीवियों का प्रयोग कीट प्रबंधन में निम्नलिखित रूप में किया जाता है :

(क) प्राकृतिक रूप से उपस्थित सूक्ष्मजीवियों का अधिक से अधिक प्रयोग।

(ख) कीट संख्याओं में स्थायी रूप से मृत्यु उत्पन्न करने वाले सूक्ष्मजीवियों का प्रवेश कारक के रूप में कराना।

(ग) कीट नियंत्रण के लिए सूक्ष्मजीवियों को सूक्ष्मजैविक कीटनाशियों की भाँति बार-बार प्रयोग में लाना।

बैक्टीरिया का प्रयोग अकेले अथवा दूसरी नियंत्रण विधियों के साथ करके दीर्घकालिक कीट-नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है। वैसीलस थूरिन जिएन्सिस नामक बैक्टीरिया के वाणिज्यिक संरूपणों को सब्जियों तथा अन्य फसलों, जंगलों तथा अन्य महत्वपूर्ण पादपों पर लाभकारी रूप में प्रयुक्त किया गया है। इस बैक्टीरिया के उपयोग से तुरंत अल्पकालिक नियंत्रण होता है। दूसरे बैक्टीरिया बेसीलस पोपिली को दीर्घकालिक कीट नियंत्रण प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। पहला बैक्टीरिया अपने प्रयोग के दस वर्ष तक भी पर्यावरण में जीवित रहता है। जबकि दूसरा बैक्टीरिया संक्रमित कीटों के द्वारा नए पारिस्थितिक तंत्रों में ले जाया जाता है। दोनों बैक्टीरिया अपने स्पोर बनाने के गुण के कारण विभिन्न संरूपणों में सहायक होते हैं।

कवकों द्वारा अब तक 30 नाशी कीट जातियों पर सफल नियंत्रण किया जा चुका है। इस प्रकार के प्रयासों में ब्यूबेरिया वेसिआना, मेटारहीजियम ऐनीसोप्ली तथा एंटोमोफथोरा जातियाँ सफलतापूर्वक बहुतायत से प्रयोग में लाई गई हैं। कवकों के प्रयोग से धान के कीट, गोभी के कीट और अन्य सिंचित फसलों के कीटों तथा मच्छरों के नियंत्रण के प्रयासों में अच्छी सफलता

मिली है। कवकों के द्वारा कीट नियंत्रण का सबसे सफल उदाहरण चिंचवग के लिए "व्हाइट मस्कर डायन" (व्यूवेरिया वेसिआना) कवक का प्रयोग है।

प्रोटोजोआ के चारों वर्ग कीटों को परजीवीकृत करते हैं। प्रोटोजोआ से उत्पन्न रोग धीमी गति से फैलता है। कीट नियंत्रण में धीमी गति के बाद भी इनकी उपयोगिता रहती है। उदाहरण के लिए ग्लूजिया पायरोस्टी नामक प्रोटोजोआ को यूरोपियन तनावेधक तथा ग्लूजिया फ्यूमीफरना नामक प्रोटोजोआ को स्प्रूस वडवर्म के विरुद्ध सफलतापूर्वक उपयोग में लाया जाता है। इनके अतिरिक्त नोजोमा जाति प्लूसिया पीपोनिस के विरुद्ध माइक्रोस्पोरीडियम जाति तंबाकू कीट और यूटेथीसिया पल्चेला के विरुद्ध टीट्रहाइनेमा जाति मक्का तथा ज्वार तना वेधक के विरुद्ध वेलीशीडियन जाति थ्रिप्स, फ्लेवस सिंरटोथ्रिप्स तथा एलीगोचिट्स जाति के विरुद्ध प्रभावी पाई गई।

विषाणुओं का कीट नियंत्रण में अधिक प्रयोग हुआ। विषाणु लेपीडोप्टेरा कीटों को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं।

वायरस बहुत अधिक परपोषी-विशिष्ट होते हैं। कीट की प्रत्येक विशेष जाति के लिए एक विशेष वायरस की आवश्यकता होती है। कीटों के प्रारंभिक इन्स्टार वायरसों से अधिक प्रभावित होते है। अतः यह आवश्यक है कि इनके प्रयोग के समय का उचित निर्धारण किया जाए। जैविक नियंत्रण के उद्देश्यों को देखते हुए कीट नियंत्रण के लिए सामान्यतया दो वायरस न्यूक्लियर पोलीहीड्रोसिस वायरस (एन.पी.वी.) और ग्रेनुलोसिस वायरस (जी.वी.) अधिक उपयोगी हैं। कपास के वॉलवर्म, पतगोभी का लूपर, कपास पत्ती वर्म, अल्फाल्फा इल्ली (कैटर पिलर), चने की

सूंडी, तंबाकू के कीट आदि के विरुद्ध एन. पी. वी. वायरस का प्रयोग प्रभावशाली पाया गया।

जैव कीट नियंत्रण के लाभ — इनके उपयोग से नाशी कीटों की सक्रियता एवं संख्या नहीं बढ़ती तथा साथ ही कीट समस्या भी उत्पन्न नहीं होती है। हमारे प्राकृतिक वातावरण में प्राकृतिक शत्रु उपस्थित हैं। उनके लिए किसी उत्पादन क्रिया की जरूरत नहीं है। परजीवों/परभक्षी जीवों का यह विशेष गुण होता है कि वे अपने पोषक कीट को ढूँढ़ लेते है। ये परजीवी एवं परभक्षी कीट अपनी संख्या में वृद्धि करके दूर-दूर तक फैल जाते है। ये नाशी कीटों पर नियंत्रण करने में अपने आप समर्थ होते है। जैविक नियंत्रण में प्रयोग होने वाले कारक कोई अवशिष्ट नहीं छोड़ते। साथ ही इनसे लाभदायक कीटों को हानि नहीं पहुँचती। प्रकृति में जैविक नियंत्रण की क्रिया एक बार शुरू होने के बाद अपने आप चलती रहती है। कुछ परजीवी/परभक्षी कीटों को कम खर्च में पालकर तथा उनकी संख्या बढ़ाकर उनका आसानी से उपयोग किया जा सकता है।

वानस्पतिक जैव कीटनाशी — पौधों से मिलने वाले ऐसे प्राकृतिक यौगिक जिनमें कीटनाशक गुण होते है वानस्पतिक जैव कीटनाशी कहलाते हैं। वे पादप रसायन जिनमें वानस्पतिक कीटनाशियों की संभावनाएं है अधिकांशतः द्वितीयक पादप उपायचय अथवा एलीलोकेमिकल है। ये रसायन पादप के मूल शरीर और जैव-रासायनिक प्रक्रमों में भाग नहीं लेते है। इन रसायनों में टरपीनोएड, फ्लेवोनाइड, फीनोलिक एमीन और एल्केलाएड सम्मिलित हैं।

वानस्पतिक कीटनाशी हालांकि प्राकृतिक यौगिक हैं तथापि संश्लेषित कीटनाशियों की तुलना में ये शीघ्रता से जैव निम्नीकृत हो जाते हैं तथा पर्यावरण को प्रदूषित नहीं करते हैं।

नीम, गुल दाउदी, महुआ, शरीफा, एकीरेन्थीज, एलियम, कनैर, जस्टीसिया, डेरिस एवं लेन्टाना आदि अनेक पौधों से प्राप्त होने वाले रसायनों में कीटनाशी के गुण अथवा भरण-निरोधक अथवा वृद्धि-निरोधक गुण पाए गए हैं।

शस्य कार्यक्रम द्वारा कीटों का नियंत्रण — शस्य कार्यक्रम के अंतर्गत गहरी जुताई करने पर उसके अंदर पाए जाने वाले कीटों की संख्या सूर्य की रोशनी द्वारा कम हो जाती है। पक्षी भी कीटों को अपना आहार बनाकर उनकी संख्या कम कर देते हैं। प्रतिरोधी किस्मों के बीजों का प्रयोग करके कीटों द्वारा होने वाले नुकसान को कम किया जा सकता है। बुवाई के समय को 10-15 दिन आगे-पीछे करके कीट और व्याधियों के प्रकोप को कम किया जा सकता है। परीक्षणों द्वारा पाया गया है कि सरसों की जल्दी बोयी गयी फसल में माहू कीट के प्रकोप उससे होने वाली हानि से छुटकारा पाया जा सकता है। आलू की फसल को जल्दी लेकर पछेती झुलसा रोग से फसल को बचाया जा सकता है। बुवाई के समय पौधे के बीच में उचित दूरी रख कर अच्छी रोशनी तथा हवा, तापमान और नमी को निचले स्तर तक कम होने से रोका जाता है। क्योंकि अगर दूरी कम है तो नमी ज्यादा होने से बीमारी और कीटों की संख्या बढ़ जाती है। रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग से कीटों की संख्या बढ़ती है। इसलिए ऐसी स्थिति का निराकरण करने के लिए जैविक खाद का प्रयोग करके प्राकृतिक खेती को बढ़ाना चाहिए। उचित समय पर पानी देकर तथा खेत की सफाई रखकर कीट-व्याधियों को बढ़ने से रोका जाता है। फसल का एक के बाद दूसरे के साथ तालमेल रखना आवश्यक है जिससे एक फसल के नाशी जीव दूसरी फसल पर न पड़ सकें, जैसे टमाटर, बैंगन, गोभी-गोभी, तथा आलू-आलू तथा अन्य मिश्रित फसलें।

एक समूह की फसलें न लगाने से अमेरिकन वर्म, झुलसा, सफेद मक्खी, विषाणु रोगों के प्रकोप कम हो जाते हैं।

यांत्रिक एवं भौतिक नियंत्रण — भौतिक नियंत्रण के अंतर्गत नाशी जीवों के अंडे-गुच्छे तथा इल्लियों को पकड़ कर नष्ट कर दिया जाता है। यह विधि यद्यपि तत्काल प्रभावी होती है तथापि इसमें श्रम एवं समय बहुत लगता है। यही कारण है कि यह विधि किसानों द्वारा कम ही अपनाई जाती है। यांत्रिक विधियां आसानीपूर्वक बड़े क्षेत्र से कीट-पतंगों का विनाश कर सकती है। इसमें प्रमुख रूप से यांत्रिक ट्रैप जैसे क्रिकेट ट्रैप, लाइट ट्रैप, वायु शोषण ट्रैप, विद्युत् ट्रैप तथा फेरोमोन ट्रैप आते हैं।

फेरोमोन ट्रैप — आजकल फेरोमोन ट्रैपों तकनीक को बड़े पैमाने पर अपनाया जा रहा है। फेरोमोन एक प्रकार का पदार्थ होता है जिसके द्वारा कीड़े अपनी जाति या अन्य जातियों के कीड़ों को संदेश देते है या विपरीत लिंग के कीड़ों को समागम के लिए अपनी ओर आकर्षित करते है। ऐसे रासायनिक पदार्थों को सैम्योकेमिकल्स कहते है। ये रासायनिक पदार्थ, कीड़ों, अन्य जानवरों या पौधों को कोई हानि नहीं पहुँचाते। किंतु इन रासायनिक पदार्थों की सूक्ष्म मात्रा भी कीटों के जीवन पर अधिक प्रभाव डालती है। कीटनाशियों के समान फेरोमोनों के अवशेष का पेड़-पौधों या जानवरों पर विषैला प्रभाव नहीं पड़ता है। इस तकनीक द्वारा धान को हानि पहुँचाने वाले मुख्य कीड़ों (जैसे तना छेदक, लीफ फोल्डर, कटवर्म आदि) का नियंत्रण आसानी से किया जा सकता है।

प्रयोग की विधियाँ —

प्रथम विधि — इसके लिए प्रति हेक्टेयर एक या दो सेम्स फेरोमोन केल्यूर को उपयुक्त ट्रैपों में लगाकर खेत में रख देने से

फसल को नुकसान पहुँचाने वाले नर कीड़े ट्रैप में फंसने आरंभ हो जाते हैं। जिस समय इनकी संख्या बताई गई संख्या से ज्यादा बढ़नी आरंभ हो जाए उसी समय उन कीड़ों पर नियंत्रण करने की बताई गई विधियों में से किसी भी विधि को अपना कर उन्हें नियंत्रित किया जा सकता है।

द्वितीय विधि — कीटों को ट्रेपों द्वारा अधिक मात्रा (मास ट्रेपिंग) में पकड़ने के लिए सेम्स फेरोमोन केल्यूर को बताए गए ट्रैपों में लगातार खेत में रख देने से आसपास मौजूद अधिकतर नर कीड़े ट्रैपों में फंसकर मर जाते हैं। इस प्रकार नर कीड़ों की अनुपस्थिति में मादा कीट अंडे नहीं देतीं। अगर देती भी हैं तो उससे बच्चे पैदा नहीं होते और न ही फसल को कोई इससे नुकसान होता है।

(घ) **प्राकृतिक खेती में जैव शाकनाशी की भूमिका** — आधुनिक कृषि के अपनाने के से हम निःसंदेह खाद्यान्न उत्पादन में आत्म निर्भर हुए, परंतु विदेशों से मँगाए गए उन्नत किस्म एवं संकर किस्म के बीजों, रासायनिक उर्वरकों एवं सिंचाई की अत्यधिक मात्रा का प्रयोग करने से हमारी फसलों में खरपतवारों की आशातीत वृद्धि हुई। इससे हमारे देश को लगभग 2000 करोड़ रुपए की वार्षिक हानि होती है तथा हमारे खाद्यान्न उत्पादन में 18 से 85 प्रतिशत तक की हानि होती है। फसलों की उपज कम करने के अतिरिक्त खरपतवार खेत से 30-40 किलो ग्राम प्रति हेक्टेयर नाइट्रोजन, 10-15 किलो ग्राम प्रति हेक्टेयर फास्फोरस तथा 20-40 किलो ग्राम/हेक्टयर पोटाश का ह्रास भी करते हैं। इसकी रोकथाम के लिए रासायनिक खरपतवारनाशी का प्रयोग किया जाने लगा, जिसका शुरूआत में काफी प्रभाव पड़ा। परंतु लगातार प्रयोग करने पर खरपतवारों की प्रतिरोध क्षमता बढ़ गई। साथ ही

इन रसायनों से हमारी मिट्टी, पीने का जल, दूध, मछली, माँस अंडे, फलों, सब्जियों एवं फसलों में इनके कुछ अंश पाए जाने लगे। इनसे हमारी जमीन का जैविक संतुलन बिगड़ गया। इन जहरीले पदार्थों के अवशेष हमारे खाद्य पदार्थों में विद्यमान होने की वजह से कैंसर तथा अन्य बीमारियां बढ़ने लगीं। ऐसी समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए केवल प्राकृतिक खेती को अंगीकृत करते हुए उसके प्रमुख आयामों, जैसे जैविक शाकनाशी, यांत्रिक अथवा भौतिक एवं कृषि विधियों को अपना कर दूर किया जा सकता है। इनका विस्तृत विवरण नीचे दिया गया है।

खेत में खरपतवार वे अवांछित पौधे है जो फसल के पोषक तत्वों, नमी और स्थान का शोषण करते है। इन्हें कीट फंगस, बैक्टीरिया आदि द्वारा नष्ट किया जा सकता है। "खरपतवारों के जैव नियंत्रण का उद्देश्य खरपतवारों को परजीवियों की सहायता से उस सीमा तक कम करना है जिससे उनसे होने वाली हानि को रोका जा सके।" खरपतवारों के जैव नियंत्रण पर अब तक अधिक कार्य नहीं किया जा सका है। इसके दो प्रमुख कारण है—

→ पहला तो यह कि इस प्रकार के जीवों, परभक्षियों तथा जीवाणुओं का उपलब्ध होना कठिन होता है जो केवल एक पौधे को प्रभावित करते हों।

→ दूसरा यह कि ऐसे परजीवी से फसलों के भी क्षतिग्रस्त होने का सदैव खतरा बना रहता है। परंतु सावधानीपूर्वक प्रयोग करने पर हानिकारक खरपतवारों के पौधों को सफलतापूर्वक समाप्त किया जा सकता है।

खरपतवारों के जैव नियंत्रण के पूर्व कुछ बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है :

→ खरपतवारों के जैव नियंत्रण के लिए ऐसे परजीवियों का चुनाव करना चाहिए जिनके शत्रु कीट न पाए जाते हों।

प्रयोग फफूंद का होता है। इसलिए जैविक शाकनाशी को कवक शाकनाशी भी कहा जाता है। आजकल व्यापारिक स्तर पर जैविक शाकनाशी तैयार करने वाले उद्योगों द्वारा कुछ महत्वपूर्ण जैव शाकनाशी तैयार किए गए हैं, जैसे मोरेनिया ओडोराटा खरपतवार को डेवाइन नामक जैविक शाकनाशी द्वारा, मालवा पुसतिला खरपतवार को बायोमेल जैविक शाकनाशी, केसिया आवट्यूसिफोलिया को कास्ट जैविक शाकनाशी द्वारा समाप्त किया जाता है।

जैविक शाकनाशी से लाभ — इस विधि से ऐसे खरपतवार नियंत्रित किए जा सकते हैं जिनकी रोकथाम रासायनिक या अन्य विधियों से भी नहीं हो पाती।

1.यह एक स्थायी विधि है। अन्य विधियों की भाँति इसे दोहराने की आवश्यकता नहीं होती।

2. इस विधि के द्वारा एकवर्षीय खरपतवारों की अपेक्षा बहुवर्षीय खरपतवारों एवं कृषित क्षेत्रों की अपेक्षा अकृषित क्षेत्रों के खरपतवारों का नियंत्रण अधिक प्रभावी ढंग से किया जा सकता है।

प्राकृतिक खेती में यांत्रिक विधियों द्वारा खरपतवार नियंत्रण की भूमिका — खरपतवार के नियंत्रण की इस विधि में यंत्रों एवं मशीनों का प्रयोग किया जाता है। खरपतवारों की किस्म एवं उनकी सघनता के आधार पर निम्न प्रकार से इनकी रोकथाम की जाती है :

(क) **खरपतवारों को हाथ से उखाड़ना** — कम क्षेत्रफल होने पर खरपतवारों को चुन-चुनकर हाथ से उखाड़ देते है। परंतु बड़े क्षेत्रों के लिए यह विधि उपयुक्त नहीं है। इस विधि द्वारा मुख्यतः लॉन, बगीचे एवं नर्सरी से एकवर्षीय एवं द्विवर्षीय खरपतवार के पौधों को समाप्त करने में सहायता मिलती है।

(ख) **हाथ से निकाई-गुड़ाई करना** — इस विधि में खरपतवारों को नष्ट करने के लिए खुर्पी, फावड़ा एवं हैंड हो का प्रयोग किया जाता है।

(ग) **खरपतवारों को काटना** — खरपतवारों को नष्ट करने की यह विधि चारागाहों व लॉन आदि में प्रयुक्त की जाती है। खरपतवारों को बार-बार नष्ट करने से उनके विभिन्न अंगों में एकत्रित भोज्य पदार्थों का भंडार समाप्त हो जाता है और खरपतवार नष्ट हो जाते हैं।

(घ) **कृत्रिम आवरण का प्रयोग** — खरपतवारों पर कृत्रिम आवरण देकर वायु एवं प्रकाश से उनका संबंध तोड़ दिया जाता है जिससे खरपतवार नष्ट हो जाते हैं। कृत्रिम आवरण के रूप में भूसा, सूखी पत्तियां, लकड़ी का बुरादा, रेत, कागज, घास व खोई आदि सामग्री का प्रयोग किया जाता है। कृत्रिम आवरण द्वारा मृदा में नमी की मात्रा, वाष्पीकरण आदि से नष्ट नहीं हो पाती जिससे मुख्य फसल की उपज में वृद्धि होती है।

(ङ) **आप्लावन द्वारा खरपतवार नष्ट करना** — जिन क्षेत्रों में पानी के साधन उपलब्ध हैं वहां खेत में खरपतवारों को पानी में कुछ समय तक डुबा कर रखा जाता है। इस प्रकार खरपतवारों के पौधों को श्वसन के लिए ऑक्सीजन एवं प्रकाश की कमी पड़ती है जिससे पौधे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। गर्मियों में इस विधि को अपनाने से पानी का तापक्रम बढ़ जाता है। जिससे पौधों की कोशिकाओं का प्रोटोप्लाज्म शीघ्र नष्ट हो जाता है।

(च) **आग लगाकर** — अधिकतर बहुवर्षीय खरपतवार अकृषित भूमियों पर पाए जाते हैं। उन्हें इस विधि द्वारा समाप्त किया जाता है।

(छ) **जलीय खरपतवारों को नष्ट करने की यांत्रिक विधियां** — नदियों, नालों एवं नहरों में लगातार सिल्ट जमा होने के कारण पानी का बहाव कम होता है। ऐसी स्थिति में जलीय खरपतवार पनपते हैं। निचली सतह से सिल्ट को खरपतवार सहित हटाकर, पानी का बहाव तेज करके खरपतवार निकाले जाते हैं।

प्राकृतिक खेती में शस्य-वैज्ञानिक विधियों द्वारा खरपतवार नियंत्रण की भूमिका — जिन भूमियों में खरपतवारों का प्रकोप हो वहां निम्न गुणों वाले प्रतियोगी शस्यों को उगाना चाहिए :

* बीज शीघ्र अंकुरित होने वाले हों तथा अंकुरण का प्रतिशत भी अधिक होना चाहिए।
* कम समय में अधिक वनस्पति व जड़ों की वृद्धि करती हो।
* फसल कीट-पतंगों व बीमारियों के आक्रमण को सहन करने की क्षमता रखती हो।
* एक क्षेत्र में एक ही फसल लगातार लेने से खरपतवारों का प्रकोप बढ़ता है। इसे फसल चक्र अपना कर दूर किया जा सकता है।
* फसलों में जैविक खाद का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि इसके विघटन के समय यह कुछ अम्ल जैसे कार्बनिक अम्ल छोड़ती हैं। यह खरपतवार के राइजोमस, नट, बल्ब एवं ट्यूबर आदि की वृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है।
* जुताई कम से कम करने से खरपतवारों की रोकथाम की जा सकती है।

* फसलों के बोने के समय में हेर-फेर करके खरपतवारों की रोकथाम की जा सकती है।
* फसलों के बोने की दिशा ऐसी होनी चाहिए जिससे खेत में अधिक से अधिक समय तक छाया बनी रहे। इस प्रकार प्रकाश व वायु की अनुपस्थिति में खरपतवारों में प्रकाश संश्लेषण की क्रिया का अवसर समाप्त हो जाता है, जिससे खरपतवार नष्ट हो जाता है।
* कूँड़ों में फसल की बुवाई करके भी खरपतवारों की समस्या को कम किया जा सकता है।

(ङ) प्राकृतिक खेती में शून्य-भूपरिष्करण की भूमिका

भूपरिष्करण — कर्षण क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य भूमि की भौतिक संरचना को इस प्रकार प्रबंधित करना है कि उससे उत्कृष्ट फसलोत्पादन की अनुकूल स्थितियां विकसित की जा सके। अतः भूमि की भौतिक अवस्था को परिष्कृत करने के उद्देश्य से भूमि पर की जाने वाली कृषि क्रियाओं को (भू + परिष्करण अर्थात् भू = मृदा तथा परिष्करण = परिष्कार करना या विकसित करना) भूपरिष्करण का नाम दिया गया है।

वेयर के अनुसार "पौधों के अंकुरण तथा वृद्धि के लिए उचित अवस्था प्रदान करने के लिए मृदा सतह की खोद-खाद करने को भूपरिष्करण कहते है।"

स्वीट (1971) भूपरिष्करण को मात्र खरपतवारों की रोकथाम का माध्यम मानते थे।

टर्नर (1866) ने भूपरिष्करण को भूमि में ऐसी अवस्था उत्पन्न करने का माध्यम माना है जिससे पौधे सुगमता पूर्वक ऊर्जा प्राप्त कर सकें तथा नमी, वायु एवं मृदा से पोषक तत्व प्राप्त कर सकें।

भूपरिष्करण की आधुनिक विचारधारा — खेती के प्रारंभ में ही भूपरिष्करण क्रियाओं के महत्व को स्वीकार किया गया था। दुर्भाग्यवश सर्वप्रथम इंग्लैंड के वैज्ञानिक जेथ्रोडेल (1731) की नई खोज "भूपरिष्करण ही खाद है" ने विश्वभर के कृषकों को इस तथ्यहीन सिद्धांत पर चलने को मजबूर कर दिया। परिणामस्वरूप लोगों में यह भावना भर गई कि भूमि पर जितनी अधिक भूपरिष्करण क्रियाएं की जाएंगी उतनी अधिक उत्पादन वृद्धि संभव हो पाएगी। उन दिनों विश्व की जनसंख्या कम थी, भूमि पर जनसंख्या का दबाव कम था। अतः एकाकी शस्यन की परंपरा प्रचलित थी। पूर्व से लेकर अब तक जो भी परिस्थितियां रही हैं उनके अंतर्गत किसान खरीफ की फसल उगाकर रबी में परती छोड़ता था अथवा खरीफ में परती रखकर रवी में फसलें उगाता था। इस प्रकार खेत की तैयारी के लिए पर्याप्त समय मिलता था। आज की बदलती हुई परिस्थितियों में सिंचाई के साधनों से समन्वित क्षेत्रों में अपनाई जाने वाली दोहरी शस्यन प्रणाली हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अपर्याप्त सिद्ध हो रही है। परिणामतः किसान बहुफसली तथा अविराम शस्यन प्रणाली अपनाने की दिशा में अग्रसर हो रहा है। इस प्रकार फसलोत्पादन प्रणाली में दो फसलों के मध्य भूमि की तैयारी हेतु बहुत कम समय उपलब्ध होता है। इस अवधि में किसानों पर कार्यभार बढ़ जाता है जिससे अधिक भूपरिष्करण करना संभव नहीं हो पाता। परीक्षणों के आधार पर यह भी देखा गया कि अधिक समय तक एक तल पर लगातार जुताई करने से मृदा की संरचना छिन्न-भिन्न हो जाती है तथा लगातार जुताई के कारण जहाँ वायु संचार की कोशिकाएं छोटी हो जाती है वहीं नाइट्रोजन और पोटाश की कमी के लक्षण भी पौधों पर दिखाई पड़ने लगते हैं।

बदलती परिस्थितियों में भूपरिष्करण की विचारधारा — सन् 1950 में सर्वप्रथम चारागाहों के पुनर्जनन तथा मृदा क्षरण की रोकथाम हेतु संयुक्त राज्य अमेरिका में की गई खोजों में भूपरिष्करण को मृदा की भौतिक अवस्था में सुधार हेतु आवश्यक न मानते हुए शून्य भपरिष्करण की संतुति की गई। इस खोज ने विश्व के अनेक वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। परिणामस्वरूप भूपरिष्करण की विचारधारा में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। वर्तमान परिवेश में फसलोत्पादन हेतु शून्य भूपरिष्करण एवं न्यूनतम भूपरिष्करण के महत्व को पूर्णतः स्वीकार किया जाने लगा है। इससे मृदा की भौतिक अवस्था को प्राकृतिक रूप में रखकर बिगड़ने से बचाने के साथ ही फसलोत्पादन के व्यय में कमी के साथ कृषि के कार्यभार को हटाया जा सकता है।

नेशनल एकेडमी ऑफ साइंस की एक रिपोर्ट (1981) के अनुसार खेत में खरपतवार नियंत्रण के अतिरिक्त मृदा की भौतिक अवस्था को सुधारने में भूपरिष्करण का कम योगदान होता है। सौभाग्य से आज ऐसे जैविक शाकनाशी विकसित किए गए हैं जिनके प्रयोग से खरपतवारों को भूमि की जुताई किए बिना ही समाप्त किया जा सकता है। आज पहले की अपेक्षा खेत की कम जुताई की जाती है। इतना ही नहीं, कम जुताई करने के साथ ही बहुत से किसान बिना जुताई के ही कुछ फसलों में बुवाई करने लगे हैं। ऐसा करना मुख्यतः फसल उत्पादक घटकों के भारी दबाव के कारण ही संभव होता है। ऊर्जा संसाधनों की घटती उपलब्धता एवं मूल्य वृद्धि, श्रमिकों की कम उपलब्धता, उनकी न्यून कार्य-क्षमता, अधिक मजदूरी दरें एवं न्यूनतम कृषि-उपज समर्थन-मूल्य के कारण अलाभकारी कृषि से विवश होकर भी किसान ऐसा करने लगे हैं।

हम जानते है कि फसलोत्पादन की सघनता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों फसल की कटाई तथा दूसरी फसल की बुवाई के बीच का समय घटता जाता है तथा फसलोत्पादन कार्यों की विविधता बढ़ती जाती है। ऐसी स्थिति में फसल की कटाई, गहाई एवं गुड़ाई के साथ-साथ भूपरिष्करण की क्रिया तथा नई फसलों के लिए खेत की तैयारी और बुवाई के लिए समय नहीं मिल पाता है। शून्य भूपरिष्करण इस समस्या का बहुत कुछ समाधान कर देता है। अतः यह वर्तमान युग की मांग भी होता जा रहा है।

आधुनिक भूपरिष्करण से हानियाँ — यद्यपि भूपरिष्करण फसलोत्पादन हेतु अत्यंत आवश्यक एवं लाभदायक क्रिया है, परंतु इसके सावधानीपूर्वक न किए जाने पर अथवा अत्यधिक मात्रा में (भूपरिष्करण) करने से निम्न हानियों की संभावना बढ़ जाती है :

* भूपरिष्करण क्रियाओं के द्वारा भूमि की पलटाई कर दी जाती है जिससे मृदा की भौतिक संरचना काफी हद तक प्रभावित होती है। भूमि के खुल जाने पर मृदा जल का वाष्पीकरण बहुत होता है जिससे बीजों के अंकुरण हेतु नमी का अभाव हो जाता है।

* भूपरिष्करण क्रिया उचित नमी पर न करने पर मृदा की संरचना बिगड़ जाती है।

* अधिक भूपरिष्करण क्रियाएं करने पर उनसे मृदा के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों को काफी हद तक प्रभावित होते हैं।

* भारी भूपरिष्करण यंत्रों के प्रयोग से मृदा का स्थिर समुच्चय टूट जाता है जिससे हल तल की गहराई के नीचे मृदा में कठोर परत का निर्माण हो जाता है।

* ब्रेडी (1974) के अनुसार इन समस्त क्रियाओं से मृदा में अंतःस्रवण घटता है तथा मृदा के अपवाह और अपरदन में वृद्धि होती है।

* हल्की मृदाओं जैसे बलुई मिट्टी, बलुई दोमट आदि में अधिक भूपरिष्करण करने पर भूमि की नमी सूख जाती है जिससे मृदा की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है।

* अधिक जुताई करने पर मृदा के कण छोटे-छोटे कणों में टूट जाते हैं जिसके कारण वायु एवं जल द्वारा इनका क्षरण अधिक होता है।

* एक निश्चित अवस्था के पश्चात् खड़ी फसलों में भूपरिष्करण क्रिया करने से पौधों की जड़ों तथा वायवीय भागों को क्षति पहुँचती है।

भूपरिष्करण द्वारा होने वाली हानियों को प्राकृतिक खेती के शून्य भूपरिष्करण एवं न्यूनतम भूपरिष्करण के सिद्धांतों को अपनाते हुए पर्यावरणीय दृष्टिकोण से मृदा के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों को संरक्षित रखते हुए भूपरिष्करण से अधिकतम फसल उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है।

शून्य भूपरिष्करण — शून्य भूपरिष्करण वह प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत अवांछित वनस्पतियों—खरपतवारों को अन्य वैकल्पिक विधियों से नियंत्रित करके, फसलोत्पादन के लिए मिट्टी की कम से कम पलटाई की जाती है। यह न्यूनतम भूपरिष्करण का चरम बिंदु होता है। फिर भी बीजों के अंकुरण एवं मृदा में पौधों के स्थापित होने के लिए भूमि में कुछ न कुछ खुदाई आवश्यक होती है जिसे बिल्कुल समाप्त नहीं किया जा सकता है। इस विधि में या तो बीजों के बुवाई के लिए ही कूंड बनाई जाती है अथवा बीजों की बुवाई डिबलर के द्वारा की जाती है। गाँवों में किसान सब्जियों की बुवाई खुरपी से एक निश्चित गहराई पर करते है जिससे अच्छी पैदावार प्राप्त होती है। उपरोक्त विधियाँ, हल्की भूमियों,

अच्छे जल-निकास वाली भूमियों, कार्बनिक पदार्थों से युक्त मृदा, महत्वपूर्ण सूक्ष्म जीवाणु-युक्त मृदा के लिए उपयोगी होती हैं।

जब किसी फसल की कटाई के तुरंत बाद फसल के अवशेषों के बीच कम से कम जुताई या बिना जुताई किए ही दूसरी फसल की बुवाई कर दी जाती है तो उसे शून्य भूपरिष्करण कहते हैं। इस विधि में खरपतवार को जैविक शाकनाशी पदार्थों से समाप्त किया जाता है। इसे न्यूनतम भूपरिष्करण के नाम से भी पुकारा जाता है।

बैयूमर तथा बैकरमेन्स (1973) के अनुसार शून्य भूपरिष्करण वह प्रणाली है जिसमें बीज शैय्या की तैयारी हेतु भूमि की कम से कम जुताई की जाती है। आमतौर पर इस विधि में खेत की जुताई बीजों की बुवाई के समय उन्हें उचित गहराई पर भूमि में मिलाने के लिए ही की जाती है।

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान नई दिल्ली, गोविंद बल्लभ पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय पंत नगर नैनीताल, अन्य कृषि विश्वविद्यालयों के कृषि फार्मों पर एवं आचार्य नरेंद्र देव कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, फैजाबाद द्वारा पूर्वी उत्तर प्रदेश के 17 जनपदों के 549.55 हेक्टेयर क्षेत्रफल में रबी 2001-02 में जीरो टिल तकनीक पर आधारित प्रदर्शन के परिणाम इस बात को स्पष्ट करते हैं कि धान की कटाई के उपरांत उचित नमी पर बिना खेत की जुताई किए गेहूँ एवं मक्के की बुवाई करके परंपरागत बुवाई की तुलना में अधिक शुद्ध लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इतना ही नहीं, खेत की तैयारी में लगने वाले समय, श्रम एवं धन की बचत के साथ-साथ गेहूँसा खरपतवार की विकट समस्या से भी काफी हद तक छुटकारा पाया जा सकता है।

शून्य भूपरिष्करण

क्यों, कैसे और कहाँ — धान की फसल कटाई के बाद बिना जुताई जीरो टिल मशीन द्वारा गेहूँ की बुवाई करने की विधि को जीरो टिलेज (शून्य भूपरिष्करण) कहते है। यदि गेहूँ की बुवाई समय से नहीं की जाए तो प्रति हेक्टेयर पैदावार काफी कम हो जाती है। परंतु जीरो टिलेज को अपना कर इस नुकसान की भरपाई की जा सकती है तथा खेत की तैयारी पर होने वाले खर्च को बचाया जा सकता है।

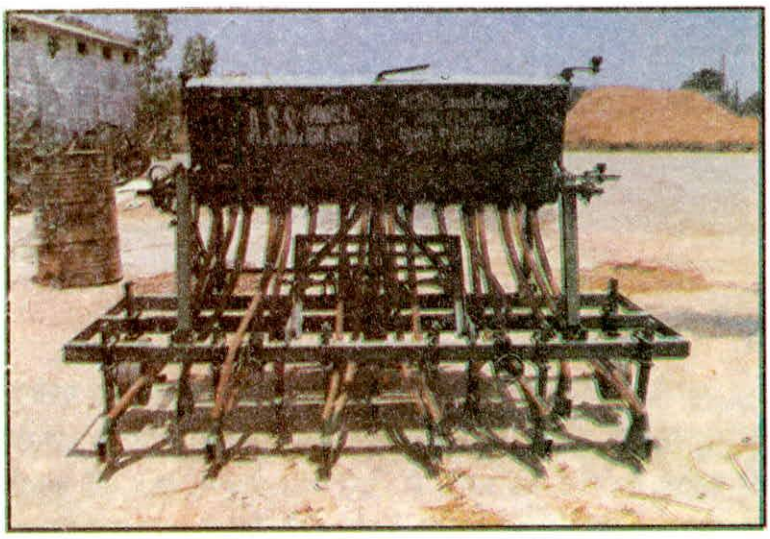

जीरो टिल कम फर्टी ड्रिल मशीन

धान की कटाई के पूर्व एक सिंचाई की आवश्यकता होती है। धान कटाई के तुरंत बाद बची हुई नमी का उपयोग करके जीरो टिलेज मशीन द्वारा गेहूँ की बुवाई कर दी जाती है। इससे जो समय खेत तैयार करने के लिए जरूरी होता है उसकी बचत हो जाती है। जीरो टिल मशीन का उपयोग चिकनी मिट्टी को

जीरोटिलेज मशीन के प्रयोग में सावधानियां —

* मशीन का प्रयोग करने से पहले नट-वोल्ट कस करके आवश्यकतानुसार ग्रीज लगाए।

* बुवाई करने से पूर्व मशीन का अंशांकन कर लें जिससे बीज एवं उर्वरक की निश्चित मात्रा खेत में डाली जा सके।

* जीरो टिल ड्रिल में केवल दानेदार उर्वरक का ही प्रयोग करें ताकि मशीन के पाइप में अवरोध उत्पन्न न हो। उर्वरक उसी समय डालें जब बुवाई आरंभ कर रहे हों।

* बुवाई के दौरान यह निश्चित करते रहें कि बीज एवं उर्वरक खेत में बराबर गिरते रहें।

* बीज की गहराई सामान्यतः 5 से 7 सेमी. रखनी चाहिए। मशीन में दो साइड व्हील दिए गए हैं जिन्हें स्क्रू-बोल्ट की सहायता से ऊपर-नीचे करके बुवाई की गहराई कम या अधिक की जा सकती है।

* ट्रैक्टर की गति बराबर एवं एक जैसी रखनी चाहिए।

जीरो टिल मशीन द्वारा बीज बुवाई से लाभ — इस मशीन से गेहूँ की बुवाई करने से कई लाभ हैं। इसमें समय, श्रम व धन की बचत के साथ-साथ यह अधिकतम उत्पादन की दृष्टि से भी काफी महत्वपूर्ण है।

* यह कम खर्च की बुवाई की एक उन्नत तकनीक है। खेती की तैयारी न करने के कारण 1500 से 1700 रुपये प्रति हेक्टेयर की बचत होती है।

* खेती की तैयारी करने में लगने वाले समय की बचत करके गेहूँ की बुवाई 8-10 दिन पहले की जा सकती है।

* इस मशीन द्वारा बीज एवं उर्वरक की एक निश्चित मात्रा एक समान व निश्चित गहराई पर लाइनों में पड़ती है।

* इस मशीन द्वारा बुवाई करने पर बीज का अंकुरण बिना पाटा दिए हुए हो जाता है।

* पौधे से पौधे एवं लाइन से लाइन की दूरी अपने आप निर्धारित रहती है। पंक्ति से पंक्ति की दूरी इच्छानुसार घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

* खेतों की जुताई न करने के कारण खरपतवार के बीज गहराई में पड़े रहते हैं जिससे खरपतवार कम उगते हैं।

* फसलों की निराई, गुड़ाई एवं कटाई अधिक आसान एवं कुछ सस्ती रहती है।

* शून्य भूपरिष्करण मशीन एवं संसाधनों के उचित प्रबंधन द्वारा गेहूँ एवं मक्के की अच्छी पैदावार के साथ-साथ समय, श्रम एवं धन की भी बचत होती है।

शून्य भूपरिष्करण में 'प्रकृति के हलवाहे' केंचुए की भूमिका — विकासवाद के प्रणेता चार्ल्स डॉर्विन के अनुसार केंचुए जमीन की यह जुताई उससे भी पहले से कर रहे हैं जब मानव ने पहली बार खेती से फसलें उगानी शुरू की थी। डॉर्विन ने लिखा था कि मैं कई बार इस बारे में सोचता हूँ कि केंचुओं ने भी दुनिया के इतिहास में जितनी अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है उतनी किसी अन्य प्राणी ने की भी हैं या नहीं?

बिना रासायनिक उर्वरकों एवं बिना जुताई गुड़ाई किए फसलों की शुद्ध गुणों वाली अच्छी पैदावार प्राप्त की जा सकती है। साथ ही नारियल, चीकू, केले, आम एवं पपीते की अच्छी पैदावार प्राप्त की जा रही है। सावें का कहना है कि खेतों को जोतने से मिट्टी के महत्वपूर्ण एवं उपयोगी सूक्ष्म जीवाणु नष्ट हो जाते है। सावे का फार्म प्राकृतिक कृषि के गुणों को स्वीकार करने तथा न करने वालों दोनों के लिए एक तीर्थस्थान बन गया है।

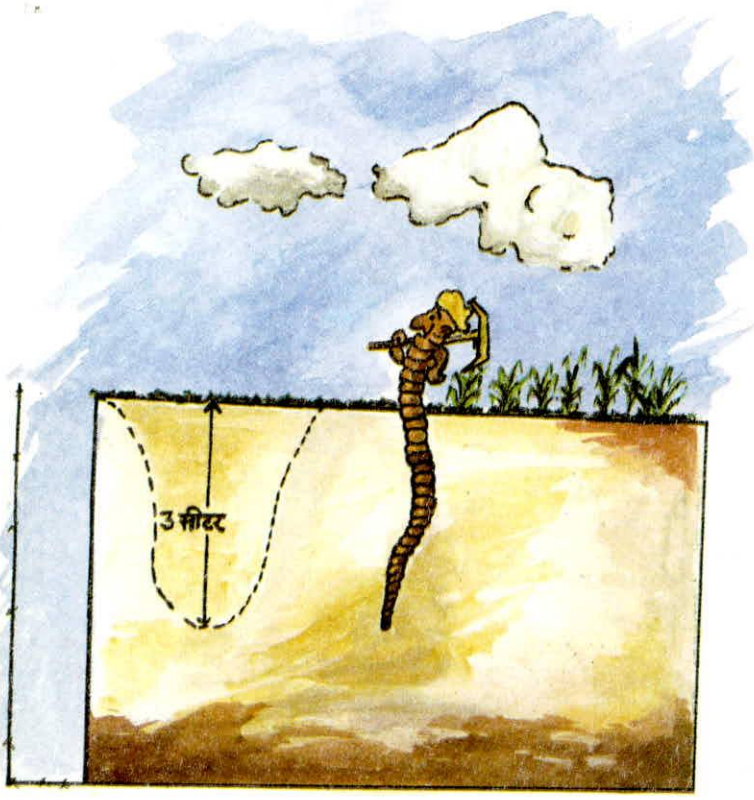

प्रकृति के हलवाहे – केंचुए

सावे के लिए प्राकृतिक कृषि एक जीवन-शैली बन गई है। डीजल से चलने वाले महँगें कृषि उपकरणों पर पैसा खर्च करने की बजाए सावे ने अपने खेतों में कोई दो करोड़ केंचुए पाल लिए हैं। ये विनम्र प्राणी न केवल मिट्टी को पलटकर उसे पोली, भुरभुरी एवं हवादार बनाते हैं बल्कि उसे उर्वर भी बनाते हैं।

मृदा निर्माण में 'प्रकृति के हलवाहे' केंचुओं की भूमिका — मिट्टी में विभिन्न प्रकार के जीव निवास करते है। इनमें पौधे एवं प्राणी दोनों सम्मिलित हैं। आकार-प्रकार में ये विभिन्न रूपों में मिलते हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव, जैसे जीवाणु एवं शाकाणु (जिन्हें साधारणतया नहीं देखा जा सकता है) तथा केंचुए, कीड़े और चूहे आदि बड़े प्राणी भूमि में आश्रय लिए हुए पाए जाते है। भूमि की भौतिक, रासायनिक और विशेष रूप से जैविक अवस्था पर पौधों की जड़ों एवं जीवों की संख्या का विशेष महत्व होता है। भूमिगत जीवों के क्रियाकलाप में विभिन्नताएं पाई जाती हैं। इसके अंतर्गत पौध अवशेषों का भौतिक विखंडन कीटों—विशेषकर केंचुओं के द्वारा होता है। इनका और भी अधिक सूक्ष्मीकरण जीवाणुओं और एक्टीनो माइसीटीजों के कारण होता है जो भूमि में जीवांश की मात्रा की निर्धारित करते है। जीवांश कई गुणों से परिपूर्ण होते हैं। इसमें भूमि जीवित रहती है।

मृदा का निर्माण मुख्यतया भौतिक, रासायनिक एवं जैविक ऋतु क्षरण द्वारा होता है। भौतिक ऋतुक्षरण के अंतर्गत मृदा के निर्माण में केंचुए की अहम् भूमिका होती है। केंचुए अपनी कुदरती चक्की जिसे विज्ञान की भाषा में पेषणी (गिजर्ड) कहते है, चट्टानों को छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ते हैं जो मिट्टी के निर्माण में सहायक होता है।

जल संरक्षण में 'कृषि वैज्ञानिक' – केंचुए की भूमिका

केंचुओं द्वारा प्राप्त मल अर्थात् वर्मीकंपोस्ट मृदा कणों को आपस में जोड़ने के लिए सीमेंटिंग कारक के रूप में कार्य करते है। वर्मीकंपोस्ट मिट्टी के कणों को बाँध कर रखता है जिससे भू-क्षरण की क्रिया में कमी होती है। साथ ही केंचुओं द्वारा प्राप्त मल में जल रोकने की क्षमता 56 गुना बढ़ जाती है। केंचुआ-मल को मृदा में प्रयोग करने पर मृदा के अंदर पाए जाने वाले सूक्ष्म जीवों की क्रियाशीलता में तेजी से वृद्धि होती है। कैल्शियम ह्यूमिटेट और पॉलीसेकैराइडों को केंचुए अपने आहारनाल में उपस्थित सूक्ष्म जीवों द्वारा संश्लेषित कर देते हैं जो मृदा-कणों को आपस में जोड़ने का कार्य करते है। केंचुए मृदा की ऊपरी सतह पर उपस्थित कार्बनिक पदार्थों एवं अन्य अवशिष्ट पदार्थों को निचली सतहों पर एकत्रित करते हैं और निचली सतह की मृदा को ऊपरी सतह पर एकत्रित करते हैं जिससे सभी तत्वों एवं खनिजों का भली-भाँति मिश्रण हो जाता है और पौधे उन्हें अपनी वृद्धि एवं विकास के लिए सुगमतापूर्वक ग्रहण करते हैं।

जल संरक्षण में 'प्रकृति के हलवाहे' केंचुओं की भूमिका — प्रकृति के हलवाहे केंचुए कार्बनिक एवं अवशिष्ट पदार्थों को विघटित करके वर्मीकंपोस्ट में परिवर्तित कर देते है जो कुल शुष्क भार का 60 प्रतिशत होता है। इसके अतिरिक्त मृदा कणों का एकत्रीकरण, मृदा को पलटना, सुरंगें बनाना आदि केंचुओं द्वारा प्रभावित होते हैं और सभी क्रियाएं मृदा वायु निकास को प्रभावित करती हैं। वोल्नी के अनुसार केंचुओं द्वारा बनाई गई नलियों से कुल सरंध्रता में 57.1% से 59.8% तक और अकेशीय सरंध्रता में 8.9 से 31.2% तक वृद्धि पाई गई और केंचुओं द्वारा निर्मित नलियों से मृदा में वायु संचार पहले की अपेक्षा ढाई गुना अधिक बढ़ गया।

अच्छी उत्पादकता और अधिकतम फसलोत्पादन प्राप्त करने में जल की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिए इसका समुचित उपयोग और प्रबंधन आवश्यक है। देश के कम और अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में वर्षा का वार्षिक वितरण 50 मि.मी. से कम और 2000 मि.मी. से अधिक के बीच है। इस विषमता के आधार पर यह अति आवश्यक है कि वर्षा के जल का स्थानीय आधार पर संग्रह, एवं उसके उपयोग की उचित प्रौद्योगिकी का विकास किया जाए। स्थायी जल प्रबंधन के प्रमुख घटक निम्न है :

* जल संसाधन का उचित उपयोग।
* सिंचाई जल की पैमायशी आधार पर आपूर्ति जिससे किसान जल के प्रयोग में मितव्ययी बने। इससे अंधाधुंध सिंचाई के कारण मृदा की भौतिक, रासायनिक एवं जैविक दशाओं पर पड़ने वाले कुप्रभाव से बचा जा सकता है।
* भूमिगत जल चूँकि दुर्लभ संसाधन है अतः इसे दूषित होने से बचाना चाहिए।
* क्षारीयता की रोकथाम के लिए सिंचाई प्रणाली की समुचित रूपरेखा एवं प्रबंधन पर विशेष ध्यान देना चाहिए।
* भूमिगत जल का उचित प्रबंधन करने के लिए दूर-संवेदी तकनीक को विकसित करना चाहिए।
* नहरों व भूमिगत जल-संसाधनों के विकास और विद्युतीकरण के लिए समुचित धन का आबंटन आवश्यक है ताकि सिंचाई-क्षमताओं का पूरा उपयोग किया जा सके।
* कमान क्षेत्रों में जल-संरक्षण विधियाँ अपनानी चाहिए।
* पर्यावरण के अनुकूल कम लागत वाले मध्यम आकार के पौधों का निर्माण एवं विकास करना चाहिए।

अध्याय - 6

उपसंहार

हमारे देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के परिप्रेक्ष्य में भू-क्षेत्र की निरंतर कमी होती जा रही है। ऐसी स्थिति में बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए अधिकतम खाद्यान्न उत्पादन की आवश्यकता है। इस कार्य हेतु हमारे देश के कृषि वैज्ञानिकों ने आधुनिक एवं वैज्ञानिक खेती के विषय में कई प्रकार के सुझाव दिए है जिनके अंतर्गत मुख्य रूप से उन्नतिशील एवं संकर बीजों का प्रयोग, रासायनिक उर्वरकों, रासायनिक कीटनाशियों एवं शाकनाशी पदार्थों के प्रयोग पर विशेष जोर दिया गया है। यह सच है कि हरित क्रांति में उर्वरकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, किंतु वर्तमान में रासायनिक उर्वरकों के अंधाधुंध उपयोग से हमे अब लाभ की बजाय हानि हो रही है तथा भूमि की उत्पादकता क्षीण हो रही है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण पंजाब राज्य है। विदेशों के साथ-साथ अब हमारे देश में भी उर्वरकों के विषैले प्रभाव सामने आने लगे हैं जिनमें उच्च रक्तचाप, गैसट्राइटिस, फ्लोरीन के विषैले प्रभाव आदि शामिल हैं। उर्वरकों के अत्यधिक प्रयोग के कारण हमारी फसलों की गुणवत्ता पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है।

देश का भौम जल स्तर गुणवत्ता एवं शुद्धता के लिहाज से सबसे सुरक्षित एवं संरक्षित स्रोत होता है। किंतु जब से पंजाब एवं अन्य क्षेत्रों के भूमिगत जल में नाइट्रेट की अधिक मात्रा पाई जाने लगी तो हमारा यह सुरक्षित भंडार भी असुरक्षित हो गया है। इसका एक मात्र कारण किसानों द्वारा नाइट्रोजन उर्वरकों का अधिकतम प्रयोग है।

कीटनाशियों का लगातार अधिकतम प्रयोग हमारी भूमि एवं जल को ही नहीं प्रदूषित करता, बल्कि मनुष्यों एवं पशुओं को भी प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ गायों एवं स्त्रियों के दूध में डी.डी.टी. का पाया जाना। यह भी सत्य है कि डी.डी.टी. के कारण मनुष्यों की कोशिकाओं ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं जिनके कारण बहुत-सी बीमारियाँ-जैसे अपंगता, मानसिक विकलांगता, भेंगापन या किसी भी प्रकार की शारीरिक विकलांगता हो सकती है। यह तो मात्र एक डी.डी.टी. का प्रभाव है—जब कि हम लोग इस प्रकार की दर्जनों कीटनाशी दवाओं का प्रयोग आधुनिक खेती में कर रहे हैं। इसके विषैले प्रभाव हमारी फसलों को एवं हम सभी के स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं।

आर्गेनोफास्फोरस-आधारित कीटनाशियों को अधिक प्रभावशाली बनाने हेतु भारी धातुओं का इस्तेमाल होता है। अतः जब इन कीटनाशियों को प्रयोग में लाया जाता है तो हरी सब्जियाँ इन भारी तत्वों को अवशोषित कर मनुष्यों तक पहुँचाने का कार्य करती हैं। इन भारी तत्वों के कारण कैंसर, किडनी का खराब होना, लीवर सिरोसिस, हाईपर टेन्शन आदि बीमारियां हो जाती हैं। कीटनाशियों के बढ़ते हुए प्रयोग के कारण बहुत से कीटों ने अपने अंदर प्रतिरोध क्षमता भी उत्पन्न कर ली है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मच्छर है जो मलेरिया जैसी व्यापक बीमारी को फैलाता

है। सरकार ने 15-20 वर्ष पूर्व इसे खत्म करने का दावा किया था। परंतु आज मलेरिया या डेंगू जैसी महामारियों के प्रकोप से पुनः पूरा देश परेशान है। फिनिट एवं बेगॉन जैसे कीटनाशियों के प्रयोग से मच्छर पर अब कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

आज देश एवं विदेश के वैज्ञानिक यह कहने लगे है कि गेहूँ की बुवाई के लिए 5 से 7 बार जुताई करना आवश्यक नहीं है। मात्र एक जुताई पर्याप्त है। अनुसंधान से पता चला है कि यदि गेहूँ की बुवाई बिना जुताई के ही कर ली जाए तो भी उसकी पैदावार पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। इससे स्पष्ट है कि अकारण कर्षण क्रियाओं से कोई फायदा नहीं है। उधर हानि के तौर पर ट्रैक्टर आदि बड़े यंत्रों जुताई करने पर मिट्टी की संरचना पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। उसके अंदर पाए जाने वाले केंचुओं की संख्या कम हो जाती है।

उपरोक्त सभी तथ्यों को देखते हुए आज यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इन हानिकारक पद्धतियों से छुटकारा पाना ही समाज के लिए हितकारी है।

प्राकृतिक खेती अथवा जैविक खेती हमारे अंदर आशा की एक किरण जगाती है जो हमें हानिकारक पद्धतियों से छुटकारा पाने का रास्ता दिखाती है। प्राकृतिक खेती को स्थायी स्वरूप प्रदान करने के लिए मुख्य रूप से निम्न चार सिद्धांतों पर ध्यान देना उचित होगा :

* भूपरिष्करण के अंतर्गत बड़े यंत्रों के प्रयोग से हमारी मिट्टी के स्वरूप, जैसे उसकी संरचना, मिट्टी का क्षरण आदि पर दुष्प्रभाव पड़ता है। मिट्टी की सतह कठोर हो जाती है तथा मृदा के अंदर पाए जाने वाले महत्वपूर्ण सूक्ष्म जीवों पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

इससे छुटकारा पाने के लिए अपने देश की पारंपरिक विधियों जैसे बैलों द्वारा खेती एवं मृदा के अंदर पाए जाने वाले असंख्य सूक्ष्म जीव जैसे 'प्रकृति के हलवाहे' केंचुए की मदद से जुताई करनी चाहिए। केंचुए कुदरती तौर पर अहर्निश मिट्टी की पलटाई करते रहते हैं। इसलिए न्यूनतम एवं शून्य भूपरिष्करण को अपनाना उचित होगा।

* रासायनिक उर्वरकों के लगातार प्रयोग से हमारी मिट्टी के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। साथ ही यह हमारे पर्यावरण को भी प्रदूषित करता है। इससे छुटकारा पाने का एक मात्र विकल्प जैविक खादों एवं जैव उर्वरकों का प्रयोग ही है।
* रासायनिक कीटनाशियों के प्रयोग से पड़ने वाले दूषित प्रभाव से बचने के लिए इनके स्थान पर जैविक एवं यांत्रिक विधियों को अपनाकर मानव-समुदाय एवं वातावरण को हानिकारक प्रभावों से मुक्त रखा जा सकता है।
* रासायनिक शाक-नाशियों के प्रयोग से मृदा जल एवं पौधों की गुणवत्ता पर पड़ने वाले हानिकारक प्रभावों से बचने के लिए जैविक शाकनाशियों एवं अन्य विधियों को अपनाना उचित होगा।

उपरोक्त तथ्यों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारी यंत्रों की अपेक्षा हमें प्रकृति के साथ अपने पारंपारिक ज्ञान का तादात्म्य बनाते हुए कृषि कार्य करने चाहिए। आज समय मात्र देशी हल का नहीं है, बल्कि हमारे अन्य ऐसे बहुत से कृषि उपकरण उपलब्ध है जिन्हें बैलों द्वारा चलाया जा सकता है एवं उन्हें गाँव का लुहार या बढ़ई आसानी से बना भी

सकता है। बैलों के उपयोग से हमारी खेती को दोहरा लाभ मिलता है। खेती में बैलों के उपयोग के अलावा उनसे प्राप्त गोबर एवं मूत्र भी हमारी मृदा की उर्वरता एवं उत्पादकता बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। जैविक पदार्थों के महत्व को बताने की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य भोजन के बिना जिंदा नहीं रह सकता, उसी प्रकार जैविक पदार्थों की अनुपस्थिति में हमारी मृदा भी स्वस्थ एवं क्रियाशील नहीं रह सकती है। मृदा में जैविक पदार्थों की मात्रा बढ़ाने हेतु प्राकृतिक खेती के विभिन्न कारकों जैसे-वर्मीकंपोस्ट, वर्मीवाश, हरी खाद, जैव उर्वरकों एवं बायोडायनेमिक पद्धतियों को अपनाकर मिट्टी को पर्यावरणीय दृष्टिकोण से स्वस्थ एवं गतिशील बनाकर टिकाऊ उत्पादकता को बनाए रखा जा सकता है।

रासायनिक कीटनाशी एवं शाकनाशी के विकल्प के तौर पर आज हमारे पास ढेर सारे जैविक कीटनाशी एवं शाकनाशी उपलब्ध हैं। जैविक कीटनाशियों में तंबाकू, नीम, लहसुन, एकीरेन्थीज, लैन्टाना, जस्टेसिया, कनेर, गुलदाउदी का उपयोग सर्वविदित है। इनके उपयोग से प्रभावी कीट नियंत्रण तो किया ही जा सकता है, साथ ही ये कीटनाशी स्वयं ही नष्ट होने वाले होते है। अतः इनके उपयोग से किसी भी प्रकार का विषैला प्रभाव नहीं पड़ता है। जैविक कीटनाशियों के साथ-साथ परभक्षी कीटों का भी उपयोग कीट नियंत्रण में शनैः शनैः बढ़ रहा है। परभक्षी कीटों में झींगुर, मकड़ी, काइलेकोनस, फेरोसाइकनस, क्रिप्टोलेनिस, सोयामस आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त साँप, छिपकली, गोह, नेवला आदि भी हानिकारक जीवों के नियंत्रण हेतु उपयोग में आते हैं। विभिन्न प्रकार के जीवाणुओं तथा रोगाणुओं का प्रयोग भी आज प्रचलन में है।

उपसंहार

अंत में यह कहना उचित होगा कि प्राकृतिक खेती आने वाले समय में कृषि जगत् पर पूर्ण रूप से प्रभावी होगी। प्राकृतिक खेती कोई एक विधा नहीं है, बल्कि यह खेती की अनेक विधाओं का ऐसा संगम है, जिसमें मनुष्य एवं प्रकृति के बीच संतुलन बनाए रखने का प्रयास किया जाता है। इससे मनुष्य को गुणवत्ता-युक्त एवं विषाक्तता-रहित भोजन प्राप्त हो सकेगा।

संदर्भ-सूची

1. एम. एस. स्वामिनाथन् (जून 1993), "टिकाऊ खेती का रास्ता" प्रकाशक : प्रकाशन एवं सूचना विभाग, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, पूसा, कृषि अनुसंधान भवन नई दिल्ली-12।
2. मिश्रा, शिवगोपाल एवं दिनेशमणि (1994), "मृदा प्रदूषण" प्रकाशक : ज्ञान गंगा, नई दिल्ली।
3. मिश्रा उमा शंकर (1995), "कंपोस्ट खाद की नाडेप विधि" "विज्ञान गरिमा सिंधु" अंक 18 पृष्ठ 31-32, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली।
4. गौतम आर. सी. एवं सिंह पंजाब (अक्टूबर 1997), "टिकाऊ खेती" प्रकाशक, कृषि सूचन्न एवं प्रकाशन निदेशालय, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली।
5. मिश्रा उमा-शंकर (1998), "मिट्टी की उर्वरता और उत्पादकता के लिए जैविक उर्वरक", "विज्ञान गरिमा सिंधु" अंक 24, पृष्ठ 113-114।
6. मिश्रा उमाशंकर (1999-2000), "वर्मीकल्चर" ग्रामोदय प्रकाशन, महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोद्य वि. वि., चित्रकूट, सतना, मध्य प्रदेश
7. त्रिवेदी टी. पी. (फरवरी 2000), "खेती", "समेकित नाशी जीव प्रबंधन" प्रकाशक : प्रकाशन निदेशालय, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली।

परिशिष्ट – II

हिंदी-अंग्रजी शब्द-सूची

आविषालु	toxic
उत्पादकता	productivity
उन्मुखीकरण	orientation
उपचार	treatment
उर्वरक	fertilizer
उर्वरता	fertility
ऊतक	tissue
ऋतुक्षरण	weathering
कचरा	refuse
कटाई	harvesting
कवक	fungus, fungi
काई	algae
कार्बनिक अम्ल	organic acid
कार्बनिक मृदा	organic soil
कीटनाशी	insecticide

कृषीय अपशिष्ट	agricultural waste
खरपतवार नाशी	weedicide
खाद्य तेल	edible oil
गतिशीलता	motility
चिरस्थायी कृषि	long lasting agriculture
जल ग्रहण क्षेत्र	water shed area
जलधारण क्षमता	water holding capacity
जल निकास	drainage
जल संचार क्षेत्र	water shed area
जीवभार	biomass
जीवांश	organic
जीवांश कृषि	organic farming
जीवांशमय	organic rich
जीवाणु कल्चर किट	bacterial culture kit
जैव उर्वरक	bio fertilizer
जैव पदार्थ	(1) organic water (2) biomass
जैव पदार्थ उत्पादकता	biomass productivity

जैवमात्रा	biomass
जैविक अम्ल	organic acid
जैविक कीटनाशी	bio-insecticide
जैविक खाद	organic manure/ matter
जैविक शाकनाशी	bio herbicide
झूम खेती	shifting cultivation
टिकाऊ उत्पादकता	sustainable productivity
टिकाऊ कृषि	sustainable agriculture
टिकाऊ खेती	sustainable farming
टिकाऊ गतिशीलता	sustainable continuity or motility
टिकाऊपन	sustainability
टिकाऊ सघनीकरण	sustainable intensification
टिकाऊ संसाधन	sustainable resources
टिकाऊ स्थिरीकरण	sustainable fixation
ठोस अपशिष्ट	solid waste
दुमट	loam

द्रव्यमान	mass
नमी	moisture
निक्षालन	leaching
निम्नीकरण	degradation
निम्नीकरणीय	degradable
न्यूनतम भूपरिष्करण	minimum tillage
परजीवी	parasite
परती	fallow land
परभक्षी	predator
पारितंत्र	ecosystem
पारिस्थितिकीय तंत्र	ecosystem
प्रतिजैविक	anti-biotic
प्रतिरोधिता	resistance
प्रदूषण	pollution
प्रबंधन	management
बहुरोधिता	multiple resistance
विच्छेदन	breakdown
विनिमेय	exchangeable
भारी धातु	heavy metal

भूक्षरण	soil erosion
भूजल संग्रहण	ground water storage
भूपरिष्करण	tillage
भूमि क्षमता	land capacity
भूमिगत जल	underground water
भौतिक ऋतुक्षरण	physical weathering
मूल क्षेत्र संग्रहण	root zone storage
मृदा उर्वरता	soil fertility
मृदा कण घनत्व	soil particle density
मृदा क्षमता वर्ग	soil capability class
मृदा संगठन	soil texture
मृदा संरचना	soil structure
रंध्रावकाश	pore space
वनस्पतिक	vegtative
विषाणु	virus
शाकनाशी	weedicide
शून्य भूपरिष्करण	zero tillage
संग्रहण क्षमता	holding capacity, storage capacity

संघटन	composition
संयुग्म	conjugant
संरूपण	inoculation
संवर्ध	culture
संश्लेषित	synthetic
संसाधन	resources
सघन कृषि	intensive agriculture
सतत गतिशील टिकाऊ खेती	continuous sustainable agriculture
सतही संग्रहण	surface storage
समगतिशीलता	equidynamics
सहजीवी	symbiotic
सांद्रण	cencentration
सामाजिक आर्थिक सर्वेक्षण	socio-economic survey
सूक्ष्म जीवद्रव्य	micro biomatter
स्थानांतरी कृषि	shifting cultivation
स्थूल घनत्व	bulk density
स्वप्रतिरोध क्षमता	self resistance capacity

परिशिष्ट – III

अंग्रेजी-हिंदी शब्द-सूची

absorption effect	अवशोषित प्रभाव
absorbed	अवशोषित
adsorb	अधिशोषण
acidity	अम्लीयता, अम्लता
algae	काई
application	अनुप्रयोग
bulk density	स्थूल घनत्व
biofertiliser	जैव उर्वरक
bio-insecticide	जैविक कीटनाशी
bio-herbicide	जैविक शाकनाशी
bio-mass	जैव मात्रा, जीवभार
biomass-productivity	जीवभार उत्पादकता
bacterial culture kit	जीवाणु संवर्धन
breakdown	विच्छेदन
constituent	अवयव

continuous sustainable agriculture	सतत गतिशील टिकाऊ खेती
composition	संघटन
conjugant	संयुग्मक
concentration	सांद्रण
decomposition	अपघटन
degradable	निम्नकरणीय
excess extraction	अतिनिष्कर्षण
economic interference	आर्थिक व्यतिकरण
edible oil	खाद्य तेल
ecological farming	पारिस्थितिक खेती
eco-system resources	पारितंत्र संसाधन
environment	पर्यावरण
equidynamics	समगतिशीलता
fertiliser	उर्वरक
fertility	उर्वरता
fungi (fungus)	कवक
faurisminer	गेहूँसा
fallowland	परती भूमि

germination	अंकुरण
ground water storage	भूजल संग्रहण
humidity	आर्द्रता
hygroscopic	आर्द्रताग्राही
harvesting	कटाई
holding capacity	संग्रहण क्षमता
humus	ह्यूमस
inorganic	अकार्बनिक
inject	अंतःक्षिप्त करना
insecticide	कीटनाशी
insect	कीटाणु
intensive agriculture	सघन कृषि
loam	दुमट
leaching	निक्षालन
land capability	भूमि क्षमता
mass	द्रव्यमान
motility	गतिशीलता
microbiomatter	सूक्ष्म जीव द्रव्य
moisture	नमी

non-capillary porosity	अकेशीय सरंध्रता
oxidation	आक्सीकरण
optimum	इष्टतम
orientation	अभिविन्यास
organic matter	जैव पदार्थ
organic acid	जैविक अम्ल
organic farming	जैव कृषि
organic	1. जैव 2. कार्बनिक
organic rich	जीवांशमय
percolation	अंतःस्रवण
predator	परभक्षी
pollution	प्रदूषण
parasite	परजीवी
physical weathering	भौतिक अपक्षय
pore space	रंध्रावकाश
plantation	रोपाई
residue	अवशिष्ट
residual effect	अवशिष्ट प्रभाव
refuse	कचरा

परिशिष्ट – IV

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा स्वीकृत शब्दावली-निर्माण के सिद्धांत

1. अंतर्राष्ट्रीय शब्दों को यथासंभव उनके प्रचलित अंग्रेज़ी रूपों में ही अपनाना चाहिए और हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं की प्रकृति के अनुसार ही उनका लिप्यंतरण करना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली के अंतर्गत निम्नलिखित उदाहरण दिए जा सकते हैं :—

(क) तत्वों और यौगिकों के नाम जैसे हाइड्रोजन, कार्बन डाइ-ऑक्साइड आदि;

(ख) तौल और माप की इकाइयाँ और भौतिक परिमाण की इकाइयाँ जैसे डाइन, कैलॉरी, ऐम्पियर आदि;

(ग) ऐसे शब्द जो व्यक्तियों के नाम पर बनाए गए हैं, जैसे-मार्क्सवाद (कार्ल मार्क्स), ब्रेल (ब्रेल), बॉयकाट (कैप्टेन बॉयकाट), गिलोटिन (डॉ० गिलोटिन), गेरीमैंडर (मि० गेरी), एम्पियर (मि० एम्पियर), फ़ारेनहाइट तापमान (मि० फ़ारेनहाइट) आदि;

(घ) वनस्पतिविज्ञान, प्राणिविज्ञान, भूविज्ञान आदि की द्विपदी नामावली ;

(ङ) स्थिरांक जैसे π, g, आदि;

(च) ऐसे अन्य शब्द जिनका आमतौर पर सारे संसार में व्यवहार हो रहा है जैसे रेडियो, पेट्रोल, रेडार, इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन आदि;

(छ) गणित और विज्ञान की अन्य शाखाओं के संख्यांक, प्रतीक, चिह्न और सूत्र, जैसे साइन, कोसाइन, टैन्जेन्ट, लॉग आदि (गणितीय संक्रियाओं में प्रयुक्त अक्षर रोमन या ग्रीक वर्णमाला के होने चाहिए)।

2. प्रतीक, रोमन लिपि में अंतर्राष्ट्रीय रूप में ही रखे जाएँगे परंतु संक्षिप्त रूप नागरी और मानक रूपों में भी, विशेषतः साधारण तौल और माप में, लिखे जा सकते हैं, सेन्टीमीटर का प्रतीक जैसे cm. हिंदी में भी ऐसे ही प्रयुक्त होगा परंतु नागरी संक्षिप्त रूप से० मी० हो सकता है। यह सिद्धांत बाल-साहित्य और लोकप्रिय पुस्तकों में अपनाया जाएगा, परंतु विज्ञान और प्रौद्योगिकी की मानक पुस्तकों में केवल अंतर्राष्ट्रीय प्रतीक, जैसे cm. ही प्रयुक्त करना चाहिए।

3. ज्यामितीय आकृतियों में भारतीय लिपियों के अक्षर प्रयुक्त किए जा सकते हैं जैसे : क, ख, ग या ब, स परंतु त्रिकोणमितीय संबंधों में केवल रोमन अथवा ग्रीक अक्षर ही प्रयुक्त करने चाहिए, जैसे साइन A, कॉस B आदि।

4. संकल्पनाओं को व्यक्त करने वाले शब्दों का सामान्यतः अनुवाद किया जाना चाहिए।

5. हिंदी पर्यायों का चुनाव करते समय सरलता, अर्थ की परिशुद्धता और सुबोधता का विशेष ध्यान रखना चाहिए। सुधार-विरोधी प्रवृत्तियों से बचना चाहिए।

6. सभी भारतीय भाषाओं के शब्दों में यथासंभव अधिकाधिक एकरूपता लाना ही इसका उद्देश्य होना चाहिए और इसके लिए ऐसे शब्द अपनाने चाहिए जो :—

(क) अधिक से अधिक प्रादेशिक भाषाओं में प्रयुक्त होते हों, और

(ख) संस्कृत धातुओं पर आधारित हों।

7. ऐसे देशी शब्द जो सामान्य प्रयोग के पारिभाषिक शब्दों के स्थान पर हमारी भाषाओं में प्रचलित हो गए हैं जैसे telegraph/telegram के लिए

तार, continent के लिए महाद्वीप, post के लिए डाक आदि, इसी रूप में व्यवहार में लाए जाने चाहिए।

8. अंग्रेज़ी, पुर्तगाली, फ़्रांसीसी आदि भाषाओं के ऐसे विदेशी शब्द जो भारतीय भाषाओं में प्रचलित हो गए हैं, जैसे टिकट, सिगनल, पेंशन पुलिस, ब्यूरो, रेस्तरां, डीलक्स आदि, इसी रूप में अपनाए जाने चाहिए।

9. **अंतर्राष्ट्रीय शब्दों का देवनागरी लिपि में लिप्यंतरण** : अंग्रेज़ी शब्दों का लिप्यंतरण इतना जटिल नहीं होना चाहिए कि उसके कारण वर्तमान देवनागरी वर्णों में नए चिह्न व प्रतीक शामिल करने की आवश्यकता पड़े। शब्दों का देवनागरी लिपि में लिप्यंतरण अंग्रेजी उच्चारण के अधिकाधिक अनुरूप होना चाहिए और उनमें ऐसे परिवर्तन किए जाएँ जो भारत के शिक्षित वर्ग में प्रचलित हों।

10. **लिंग** : हिंदी में अपनाए गए अंतर्राष्ट्रीय शब्दों को, अन्यथा कारण न होने पर, पुल्लिंग रूप में ही प्रयुक्त करना चाहिए।

11. **संकर शब्द** : पारिभाषिक शब्दावली में संकर शब्द, जैसे guaranteed के लिए 'गारंटित', classical के लिए 'क्लासिकी', codifier के लिए 'कोडकार' आदि, के रूप सामान्य और प्राकृतिक भाषाशास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार बनाए गए हैं और ऐसे शब्दरूपों को पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकताओं, यथा- सुबोधता, उपयोगिता और संक्षिप्तता का ध्यान रखते हुए व्यवहार में लाना चाहिए।

12. **पारिभाषिक शब्दों में संधि और समास** : कठिन संधियों का यथासंभव कम से कम प्रयोग करना चाहिए और संयुक्त शब्दों के लिए दो शब्दों के बीच हाइफ़न लगा देना चाहिए। इससे नई शब्द-रचनाओं को सरलता और शीघ्रता से समझने में सहायता मिलेगी। जहाँ तक संस्कृत पर आधारित 'आदिवृद्धि' का संबंध है, 'व्यावहारिक', 'लाक्षणिक' आदि प्रचलित संस्कृत तत्सम शब्दों में आदिवृद्धि का प्रयोग ही अपेक्षित है परंतु नवनिर्मित शब्दों में इससे बचा जा सकता है।

13. **हलंत** : नए अपनाए हुए शब्दों में आवश्यकतानुसार हलंत का प्रयोग करके उन्हें सही रूप में लिखना चाहिए।

14. **पंचम वर्ण का प्रयोग** : पंचम वर्ण के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करना चाहिए परंतु lens, patent आदि शब्दों का लिप्यंतरण लेंस, पेटेंट या पेटेण्ट न करके लेन्स, पेटेन्ट ही करना चाहिए।

15. **मानक वर्तनी** : सभी प्रकाशनों में भारत सरकार द्वारा संस्तुत मानक देवनागरी लिपि तथा वर्तनी का ही प्रयोग किया जाना चाहिए।

परिशिष्ट – V

आयोग द्वारा प्रकाशित शब्द-संग्रहों की सूची

1.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : विज्ञान, खंड-1, 2 (पृ० 2058)	174.00
2.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : विज्ञान (हिंदी-अंग्रेजी) (पृ० 819)	38.50
3.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : मानविकी और सामाजिक विज्ञान, खंड-1, 2 (पृ० 1297)	292.00
4.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : मानविकी और सामाजिक विज्ञान (हिंदी-अंग्रेजी) (पृ० 700)	132.00
5.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : कृषि विज्ञान (पृ० 223)	278.00
6.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : आयुर्विज्ञान, भेषजविज्ञान, नृविज्ञान	239.00
7.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : आयुर्विज्ञान, कृषि एवं इंजीनियरी (हिंदी-अंग्रेजी) (पृ० 240)	48.50
8.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : मुद्रण इंजीनियरी (पृ० 104)	48.00
9.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : इंजीनियरी (सिविल, विद्युत, यांत्रिक) (पृ० 253)	57.00
10.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : इंजीनियरी-(2) (पृ० 186)	34.00

विषयवार शब्दावलियाँ

1.	मानविकी शब्दावली-(नृविज्ञान) (पृ० 179)	10.00
2.	कंप्यूटर विज्ञान शब्दावली (पृ० 337)	87.00

3.	इस्पात एवं अलोह धातुकर्म शब्दावली (पृ० 378)	55.00
4.	वणिज्य शब्दावली (पृ० 172)	259.00
5.	समेकित रक्षा शब्दावली	284.00
6.	अंतरिक्ष विज्ञान शब्दावली	30.00
7.	भाषाविज्ञान शब्दावली (अंग्रेजी-हिंदी तथा हिंदी-अंग्रेजी) (पृ० 249)	113.00
8.	बृहत प्रशासन शब्दावली (अंग्रेजी-हिंदी)	निःशुल्क
9.	बृहत् प्रशासन शब्दावली (हिंदी-अंग्रेजी)	निःशुल्क
10.	पशुचिकित्सा विज्ञान शब्दावली (पृ० 174)	82.00
11.	लोक-प्रशासन शब्दावली (पृ० 98)	52.00
12.	अर्थशास्त्र शब्दावली (मानविकी शब्दावली-9) (पृ० 96)	4.40
13.	नृविज्ञान शब्दावली (पृ० 198)	10.00
14.	वानिकी शब्दावली (पृ० 62)	6.50
15.	खेलकूद शब्दावली (पृ० 103)	10.25
16.	डाकतार शब्दावली (पृ० 126)	11.60
17.	रेलवे शब्दावली (पृ० 56)	2.00
18.	गुणता नियंत्रण शब्दावली (पृ० 67)	38.00
19.	रेशम विज्ञान शब्दावली (पृ० 85)	50.00
20.	गणित की मूलभूत शब्दावली (पृ० 135)	निःशुल्क
21.	कंप्यूटर विज्ञान की मूलभूत शब्दावली (पृ० 115)	निःशुल्क
22.	भूगोल की मूलभूत शब्दावली (पृ० 156)	निःशुल्क
23.	भूविज्ञान की मूलभूत शब्दावली (पृ० 141)	निःशुल्क

24.	वनस्पति विज्ञान की मूलभूत शब्दावली (पृ. 207)	निःशुल्क
25.	पशु चिकित्सा विज्ञान की मूलभूत शब्दावली (पृ. 179)	निःशुल्क

शब्द-संग्रह

1.	कोशिका-जैविकी शब्द-संग्रह (पृ० 197)	62.00
2.	गणित शब्द-संग्रह (पृ० 357)	143.00
3.	भौतिकी शब्द-संग्रह (पृ० 536)	119.00
4.	गृहविज्ञान शब्द-संग्रह (पृ० 144)	60.00
5.	रासायनिक इंजीनियरी शब्द-संग्रह (पृ० 167)	-
6.	भूगोल शब्द-संग्रह (पृ० 369)	200.00
7.	खनन एवं भूविज्ञान शब्द-संग्रह	-
8.	भूविज्ञान शब्द-संग्रह (पृ० 328)	88.00
9.	संरचनात्मक भूविज्ञान एवं विवर्तनिकी शब्द-संग्रह (पृ० 48)	15.00
10.	पत्रकारिता एवं मुद्रण शब्दावली (पृ० 184)	12.25

आयोग द्वारा प्रकाशित परिभाषा-कोशों की सूची

1.	भूविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 284)	10.00
2.	भूविज्ञान परिभाषा-कोश-2 (सामान्य भूविज्ञान) (पृ. 196)	13.50
3.	शैलविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 195)	-
4.	प्रारंभिक पारिभाषिक रसायन कोश (पृ. 242)	3.25
5.	उच्चतर रसायन परिभाषा-कोश	17.00
6.	रसायन (कार्बनिक) परिभाषा-कोश-(3) (पृ. 280)	25.00
7.	पेट्रोलियम प्रौद्योगिकी परिभाषा-कोश (पृ. 188)	173.00
8.	प्रारंभिक पारिभाषिक कोश-गणित (पृ. 298)	18.75
9.	गणित परिभाषा-कोश (पृ. 253)	11.00
10.	आधुनिक बीजगणित परिभाषा-कोश (पृ. 159)	11.00
11.	सांख्यिकी परिभाषा-कोश (पृ. 432)	18.00
12.	भौतिकी परिभाषा-कोश (पृ. 212)	3.15
13.	आधुनिक भौतिक परिभाषा-कोश (पृ. 290)	13.00
14.	प्राणिविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 220)	10.00
15.	वनस्पतिविज्ञान परिभाषा-कोश (खंड 1,2,3,4)	-
16.	वनस्पतिविज्ञान परिभाषा-कोश-(5) (आकारिकी तथा वर्गिकी)	-
17.	पुरावनस्पतिविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 161)	80.50
18.	भूगोल परिभाषा-कोश	10.00

19.	मानव-भूगोल परिभाषा-कोश (पृ. 228)	18.00
20.	मानचित्र-विज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 361)	231.00
21.	गृहविज्ञान परिभाषा-कोश	-
22.	गृहविज्ञान परिभाषा-कोश-(2) (पृ. 64)	9.00
23.	इलेक्ट्रॉनिकी परिभाषा-कोश (पृ. 215)	22.00
24.	तरल यांत्रिकी परिभाषा-कोश (पृ. 76)	10.00
25.	यांत्रिक इंजीनियरी परिभाषा-कोश (पृ. 135)	84.00
26.	सिविल इंजीनियरी परिभाषा-कोश (पृ. 112)	61.00
27.	आयुर्विज्ञान पारिभाषिक कोश (शल्यविज्ञान)	48.05
28.	इतिहास परिभाषा कोश (पृ. 297)	20.50
29.	शिक्षा परिभाषा-कोश (पृ. 197)	13.50
30.	शिक्षा परिभाषा-कोश-(2) (पृ. 205)	99.00
31.	मनोविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 142)	9.50
32.	दर्शन परिभाषा-कोश (पृ. 432)	9.75
33.	अर्थशास्त्र परिभाषा-कोश (पृ. 232)	117.00
34.	अर्थमिति परिभाषा-कोश (पृ. 245)	17.65
35.	वाणिज्य परिभाषा-कोश (पृ. 173)	24.70
36.	समाजकार्य परिभाषा-कोश (पृ. 183)	-
37	समाजशास्त्र परिभाषा-कोश (पृ. 212)	71.40
38.	सांस्कृतिक नृविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 287)	24.00
39.	पुस्तकालय विज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 196)	49.00
40.	पत्रकारिता परिभाषा-कोश (पृ. 164)	87.50
41.	पुरातत्व परिभाषा-कोश (पृ. 391)	76.50

42.	पुरातत्व परिभाषा-कोश-(2) (पृ. 453)	509.00
43.	पाश्चात्य संगीत परिभाषा-कोश (पृ. 104)	28.55
44.	भाषाविज्ञान परिभाषा-कोश खण्ड-1 (पृ. 212)	89.00
45.	भाषाविज्ञान परिभाषा-कोश खंड-2 (पृ. 259)	59.00
46.	कंप्यूटर-विज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 144)	102.00
47.	राजनीतिविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 356)	343.00
48.	प्रबंधविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 191)	170.00
49.	अंतर्राष्ट्रीय विधि परिभाषा-कोश (पृ. 293)	344.00
50.	कृषि-कीटविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 213)	75.00
51.	वनस्पतिविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 204)	75.00
52.	पादप आनुवंशिकी परिभाषा-कोश (पृ. 185)	75.00
53.	पादपरोगविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 138)	75.00
54.	मृदा विज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 149)	77.00
55.	सूक्ष्मजैविकी परिभाषा-कोश (पृ. 193)	45.00
56.	धातुकर्म परिभाषा-कोश (पृ. 441)	278.00
57.	भारतीय दर्शन परिभाषा-कोश खंड-1 (पृ. 171)	151.00
58.	सूत्रकृमि विज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 263)	125.00
59.	विद्युत इंजीनियरी परिभाषा कोश	81.00

मुद्रणाधीन

60. संरचनात्मक भूविज्ञान परिभाषा-कोश

MGIPMRND—321HR—17-05-2004.

PED-867

600—2004 (DSK-II)

प्रबंधक, भारत सरकार मुद्रणालय, मिन्टो रोड, नई दिल्ली-110002 द्वारा मुद्रित।